चन्दबरदाई

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, जिसे नीचे बैठा लिपिक लिपिवद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

चन्दबरदाई

शान्ता सिंह

साहित्य अकादेमी

Chandbardai : A monograph written by Shanta Singh on mediaval Hindi poet.
Sahitya Akademi, New Delhi (2000) Rs. 25.

प्रथम संस्करण : 2000

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग, 'स्वाति' मंदिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
304-305, अन्ना सालई, तेनामपेट, चेन्नई 600 018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014
सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. अंबेडकर मार्ग, बंगलौर 560 001

ISBN 81-260-0865-2

मूल्य : पच्चीस रुपये

मुद्रक : पवन ऑफ़सेट प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

अनुक्रम

1

युगीन परिवेश

आदिकालीन हिन्दी-साहित्य के आविर्भाव की पृष्ठभूमि भारतीय इतिहास के जिस युग से जुड़ी है वह राजनीतिक स्तर पर अत्यन्त विक्षुब्ध था। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद कन्नौज उत्तर भारत में राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण केन्द्र हो गया था। उन दिनों इसके शासकों की दुर्बलता के कारण अन्य राजशक्तियों का, इसे हस्तगत करने के लिए, लालायित होना स्वाभाविक था। उस समय भारत में दक्षिण के राष्ट्रकूट, पूर्व के पाल और उत्तर के गुर्जर प्रतिहार तीन शक्ति-केन्द्र थे। इन तीनों में कन्नौज को अपने अधीन करने की होड़ लगी थी। नवीं शती के आरम्भ में कन्नौज पर गुर्जर प्रतिहारों का आधिपत्य हो गया। प्रतिहारों ने उत्तर भारत में राजनीतिक एकता स्थापित की तथा विदेशी आक्रमणों को भी आगे बढ़ने से रोक रखा। दसवीं सदी के मध्य तक गुर्जर प्रतिहारों की शक्ति क्षीण हो चली। हिन्दी-प्रदेश के अन्य राजवंश, जो पहले प्रतिहारों के सामन्त थे, अब स्वतंत्र होते गये। इनमें गुजरात के चालुक्य, जेजाकभुक्ति के चन्देल, ग्वालियर के कच्छपघात, मध्यभारत के कलचुरि और मालवा के परमार आदि सभी क्षेत्रीय स्तर पर स्वतंत्र हो गये। इनमें से कोई ऐसा शक्तिसम्पन्न नहीं था, जो सुसंगठित साम्राज्य या राजनीतिक एकता स्थापित करता।

किसी केन्द्रीय शक्ति के अभाव में विदेशी आक्रमणों का क्रम भी शुरू होना ही था। दसवीं सदी के अन्तिम भाग में भारत की सीमा से लगे ग़ज़नी के तुर्कों ने भारत पर आक्रमण शुरू कर दिये। विभाजित रहने के कारण दुर्बल भारतीय राजशक्ति इन आक्रमणों का मुक़ाबला कर ही नहीं सकती थी। इन विदेशी आक्रमणकारियों में महमूद ग़ज़नवी सबसे प्रमुख था। बार-बार के हमलों में उसने मध्यप्रदेश के अनेक राज्यों, उत्तर पश्चिमी भारत और पंजाब को जीतने के बाद गुर्जर प्रतिहार राजा राज्यपाल को 1018 ई. में हराकर कन्नौज के चारों ओर के क़िलों को भी जीत लिया और अपार सम्पत्ति लूट ली। पर महमूद ग़ज़नवी

के उत्तराधिकारी कमज़ोर और अयोग्य थे, इसलिए उसके द्वारा जीते हुए सभी प्रदेश, उसके मरने के बाद, स्वतंत्र हो गये और मध्यदेश के सभी राजवंश स्वतंत्रतापूर्वक शासन करने लगे।

प्रतिहारों के बाद 1080 ई. से कन्नौज पर गाहड़वालों का शासन शुरू हुआ। यह कन्नौज की समृद्धि के नये युग का आरम्भ था। इन शासकों में गोविन्दचन्द (1114-1154 ई.) ने अपनी शक्ति और कूटनीतिक क्षमता से शत्रुओं के आक्रमणों को विफल कर एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। इस वंश-परम्परा का अन्तिम प्रतिभाशाली शासक जयचन्द (1170-1193 ई.) था। 12वीं सदी के उत्तरार्ध में कन्नौज के गाहड़वाल के साथ दिल्ली-अजमेर के चौहान, दो प्रमुख राजवंश थे, शेष में से अनेक अपने-अपने प्रदेशों में उन्हीं के सामन्तों के रूप में शासन कर रहे थे। 12वीं सदी के अन्तिम भाग में कन्नौज के जयचन्द के साथ दिल्ली-अजमेर में पृथ्वीराज चौहान का शासन था। दोनों एक-दूसरे के घोर प्रतिद्वन्द्वी थे और दिल्ली पर अधिकार के लिए दोनों में वैर था। चौहान शासकों का इस युग के इतिहास-निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान है। सोमेश्वर के पुत्र पृथ्वीराज का शासन 1178 ई. में शुरू हुआ। यह काल अनेक कठिनाइयों से भरा हुआ था। हम यह देख चुके हैं कि दसवीं सदी के अन्तिम चरण में ग़ज़नी के तुर्क भारत पर आक्रमण करने लगे थे। कालान्तर में ग़ज़नी की शक्ति क्षीण होने लगी।

ग़ज़नी की शक्ति क्षीण होने पर उसके पड़ोसी प्रदेश गोर के शासक स्वतंत्र हो गये थे। मुहम्मद गोरी के चाचा अलाउद्दीन ने 1150 ई. में ग़ज़नी के सुल्तान को परास्त कर वहाँ अपना शासन स्थापित कर दिया। अलाउद्दीन के बाद बादशाह बनने पर मुहम्मद गोरी ने साम्राज्य-विस्तार के लिए भारत पर हमले करने शुरू कर दिये। सिन्ध और मुलतान तो उसने जीत लिये, पर गुजरात को जीतने में वह असफल रहा। गुजरात के आक्रमण में पराजित होने के बाद उसने दिल्ली-अजमेर के चौहान राज्य पर हमला कर दिया। पानीपत के पास पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी में (1191 ई.) में पहला युद्ध हुआ, जिसमें पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को परास्त कर दिया।

पृथ्वीराज असाधारण वीर योद्धा था। साम्राज्य-विस्तार की आकांक्षा से उसने 1162 ई. में रेवाड़ी, भिवानी और अलवर के कुछ हिस्से जीतकर अपने राज्य में मिला लिए। इसी क्रम में जेजाकभुक्ति के राजा परमर्दिदेव से वह भयंकर युद्ध हुआ था, जिसमें आल्हा ऊदल जैसे लोकप्रिय नायक मारे गये थे।

पहले युद्ध में बुरी तरह परास्त हो जाने के बाद भी गोरी ने पस्त होने

की बजाय कमर कसकर हार का बदला लेने की तैयारी शुरू कर दी। उधर अपनी सफलता से आश्वस्त पृथ्वीराज गाहड़वाल जयचन्द के साथ युद्ध में व्यस्त रहा। संयोगिता के हरण के समय जयचन्द के साथ युद्ध में पृथ्वीराज के अनेक वीर सामन्त योद्धा मारे गये थे और विवाह के बाद पृथ्वीराज पूर्णतया रति-विलास में डूब गया था। संयोगिता-विवाह की घटना की ऐतिहासिकता चाहे सन्दिग्ध हो, पर पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी के अन्तिम युद्ध के परिणाम से गोरी की तैयारी और पृथ्वीराज की सैनिक-शक्ति की क्षीणता स्वतः प्रमाणित है। इस युद्ध में पृथ्वीराज पराजित होकर बन्दी बना लिये गये। उनकी आँखें निकाल ली गयीं और बन्दी स्थिति में ही उनकी मृत्यु हुई।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

हर्षवर्धन के समय तक धर्म और राजसत्ता का घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा था। मौर्यों ने बौद्ध धर्म और गुप्त वंश ने ब्राह्मण-धर्म को केवल अपनाया ही नहीं, अपितु, उसके प्रचार-प्रसार में भी योग दिया था। हर्ष के समय में कन्नौज में बौद्ध धर्म को संरक्षण मिला हुआ था, पर जनता में पौराणिक धर्म ही प्रतिष्ठित था। जनता के सन्तोप के लिए प्रयाग में हर्प द्वारा प्रभूत दान देने की कथाएँ प्रसिद्ध हैं। तात्पर्य यह कि हर्प के समय से राजा और प्रजा की धार्मिक आस्था में अन्तर प्रारम्भ हो गया था। उनमें कोई संघर्ष या विरोध नहीं हुआ, लेकिन पहले के राजाओं द्वारा साम्राज्य-स्थापन के साथ आत्मस्वीकृत धर्म के प्रचार के निमित्त समन्वित प्रयास से उन्नति का जो एकोन्मुखी और सुसंगठित रूप उभरता था, वह अब नहीं रहा।

राजपूतों के समय धार्मिक संगठन विच्छिन्न था। वैसे भारत में सबको हमेशा ही धार्मिक स्वतंत्रता मिली हुई थी। राजपूतों में शैव मत मान्य था। परन्तु बौद्धों के अवशिष्ट प्रभाव के नाते जनता का झुकाव अहिंसा की ओर था। आदिकालीन समाज की धार्मिक पृष्ठभूमि का व्यापक विवेचन करते हुए आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट किया, "गाहड़वालों के शासनकाल में समूचा हिन्दी-भापी क्षेत्र स्मार्त मतानुयायी था। उनका प्रभाव जब क्षीण हो गया और कालिंजर, अजमेर आदि अधीनस्थ प्रान्तों में स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए, तब भी स्मार्त मत ही प्रबल रहा। इस समय शैव मत का भी बड़ा प्रभाव था। सिद्धियों की महिमा प्रतिष्ठित हो गयी थी। शैव मतानुयायी नाथ योगियों, रसेश्वरमत के माननेवाले रससिद्धों और मंत्र-तंत्र में विश्वास करनेवाले शाक्त साधकों का इन क्षेत्रों में बड़ा ज़ोर था।"[1]

11वीं सदी के आरम्भ में कलचुरि के राजा परम शैव थे। गाहड़वालों की

सत्ता-स्थापना से इस मत को सहायता मिली। सिद्धियों के प्रति लोगों के विश्वास को बल मिला, साथ ही उत्तर-दक्षिण से आनेवाले प्रभावों ने भी इसे शक्ति दी। 12वीं सदी के लगभग समूचे उत्तर भारत में शैव मत का प्राधान्य दिखाई देता है। इसकी ही एक शाखा नाथ-मत के रूप में विकसित हुई, जो "जैन धर्म से प्रभावित होने के कारण, आंशिक रूप से बौद्ध साधना को आत्मसात् करने के कारण, स्मार्त धर्म का आश्रय पाने के कारण और मुस्लिम आक्रमण के रूप में विजातीय संस्कृति की उपस्थिति के कारण निर्गुणपंथी, सहनशील और उदासीन बना रहा।"[2] इस युग में पूर्वी भारत में वज्रयानी साधना के साथ दक्षिण से आये वैष्णव धर्म के मेल से शिव और विष्णु के प्रति एक सहनशील समन्वयभाव दिखाई देता है। इस समय समूचा उत्तर भारत स्मार्त होते हुए भी शिव के प्रति श्रद्धालु था।

इस युग की राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप ही साहित्य-रचना होनी थी। केन्द्रीय शासन के विच्छिन्न हो जाने से पश्चिम से प्रबल विदेशी आक्रमण शुरू हो गये थे। राजपूतों को उनसे लोहा लेना पड़ता था। कभी वे दूसरे कमज़ोर राज्यों को हथियाने के लिए भी लालायित हो जाते रहे होंगे। शासक के रूप में अन्य प्रशासकीय गुणों या क्षमता का विकास करने की बजाय युद्ध में अपना शौर्य और पराक्रम प्रमाणित करना ही इनका एकमात्र लक्ष्य रह गया था। जाति आधारित समाज में युद्ध राजपूतों का ही दायित्व था, इसलिए उन दिनों उत्तर-दक्षिण-पूरब-पश्चिम, किसी ओर से अचानक होनेवाले आक्रमणों के लिए निरन्तर सन्नद्ध रहना होता होगा। इस सन्नद्धता को बनाए रखने के निमित्त युद्धोन्माद भड़कानेवाले चारण कवियों की अपरिहार्यता स्वतः सिद्ध है। निरन्तर युद्धों के निमित्त प्रोत्साहित करने के लिए आश्रयदाता राजाओं के वीरत्व की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करना उन चारणों का वर्गगत कर्तव्य था। जिस युग में किसी को मूँछों पर हाथ फेरते देखकर सर उतार लिया जाना वीरता का आदर्श माना जाता हो (भले ही उसके बाद पश्चात्ताप और दण्ड के रूप में आँख पर पट्टी बाँध ली जाए), उस युग की काव्य-रचना में अतिरेक और अतिशयोक्ति का होना स्वाभाविक है। उस युग के काव्य के विषय में आचार्य द्विवेदी की यह टिप्पणी अत्यन्त सटीक है, "उन कवियों ने राज-स्तुति के नाम पर असंभव घटनाओं और अपतथ्यों की योजना की। विवाह भी उस वीरता का एक बहाना बनाया गया। आजकल के ऐतिहासिक विद्वान् बेकार ही उन घटनाओं और अपतथ्यों से इतिहास खोज निकालने का प्रयास करते हैं। इन काव्यों में आश्रित कवियों ने व्यापक रूढ़ियों के आधार पर अपने राजा या काव्यनायक को उत्साह का आश्रय और रति का

आलम्बन बनाना चाहा है। इनमें इतिहास को समझने का कम और तत्कालीन प्रचलित काव्य-रूढ़ियों को समझने का अधिक साधन है।"[3]

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की पृष्ठभूमि का यह विश्लेषण तब तक अधूरा ही माना जाएगा, जब तक देश के पूर्वी क्षेत्र में व्यापक प्रभाव रखनेवाले बौद्ध, सिद्धों और नाथयोगियों तथा गुजरात एवं राजस्थान के जैन आचार्यों की चर्चा न कर ली जाए। आठवीं से तेरहवीं सदी के अन्त तक इन सिद्धों और योगियों की महिमा सर्वमान्य थी। वस्तुतः यह युग सिद्धों और सामन्तों का था। चारण कवि सामन्ती संस्कृति के अभिन्न अंग थे। सिद्ध और योगी जनता पर भी प्रभाव रखते थे। विवेच्य काल में राहुल सांकृत्यायन ने पाँच कवियों—स्वयम्भू (790 ई.), पुष्पदन्त (956-72 ई.), शांतिपा (1000 ई.), हेमचन्द्र सूरि (1088-1179 ई.), अब्दुर्रहमान (1010 ई.), को विशेष महत्त्व दिया है। इनके साथ युग प्रवर्तक व्यक्तित्व के धनी गोरक्षनाथ (ग्यारहवीं सदी) को भी सम्मिलित किया जाना अनिवार्य है। इनमें जनता के बीच जो प्रतिष्ठा गोरक्षनाथ को प्राप्त है, वह किसी को नहीं। सिद्ध शान्तिपा गौड़ नृपति के राजगुरु थे। उन्होंने छंदशास्त्र का ग्रंथ *छंदोरत्नाकर* भी लिखा है। स्वयम्भू, पुष्पदंत और हेमचन्द्र सूरि जैन कवि थे। इनमें जैन धर्म के प्रति विशेष झुकाव स्वाभाविक है। अब्दुर्रहमान ने *संदेशरासक* काव्य लिखा है। वे भावना के स्तर पर लोक से अधिक जुड़े हैं। इनमें सबसे बड़ा व्यक्तित्व गोरक्षनाथ का है। अपनी सीमाओं के बावजूद इन कवियों ने पारम्परिक रूढ़ियों का खण्डन किया है। 'सत्य को बाहर नहीं अन्तस्थ' माना है। तीर्थ, व्रत, छुआछूत, जाति-पाँति के भेद को व्यर्थ माना है, गुरु-ज्ञान को महत्त्व दिया है और जीवन के प्रति एक सहज प्रगतिशील चेतना को व्यक्त किया है। गुरु गोरक्षनाथ का प्रभाव बहुत व्यापक है। राजस्थान की राजपूत जातियाँ भी उनसे प्रभावित थीं। चारण कवि योग-साधना की लोकोत्तर सिद्धियों से प्रभावित थे। चन्दबरदाई स्वयं योग-विद्या से परिचित थे। आदिकाल के इतिहास का विश्लेषण करनेवाले आचार्यों ने *चारण कवियों की जीवन-दृष्टि को पारम्परिक एवं क्षयशील तथा सिद्धों और योगियों की दृष्टि को प्रगतिशील प्रमाणित किया है।*

उपर्युक्त दोनों प्रमुख प्रवृत्तियों के अतिरिक्त आदि काल में लोक-काव्य रचना की एक धारा भी प्रवाहित थी, जिसकी श्रेष्ठ रचना *ढोला मारूरा दूहा* है। यह लोककथा परम्परा की अन्यतम कृति है। चारणों के रासो काव्यों में भी लोक-जीवन की सरसता कहीं-कहीं विद्यमान है। *वीसलदेव रासो* पूरी तरह लोक-भावना में रँगा हुआ है। *पृथ्वीराज रासो* में भी तंत्र-मंत्र और योगसिद्धि आदि लोक-विश्वासजनित मान्यताएँ पायी जाती हैं। तात्पर्य यह कि आदि काल की हिन्दी कविता अपनी

सांस्कृतिक ऊर्जा सामन्तीय जीवन, शैव, बौद्ध, जैन तथा स्मार्त धर्म की मान्यताओं और लोक-मानस में संचित स्मृतियों एवं विश्वासों से प्राप्त करती रही है। इसी से इस काल में किसी एक सर्वसमावेशी प्रवृत्ति का अभाव लक्षित होता है। इसी कारण इतिहास लेखकों ने इस काल को किसी विशेष प्रवृत्ति से न जोड़कर सुविधा की दृष्टि से 'आदिकाल' कहना बेहतर समझा है।

निष्कर्ष

आदिकालीन साहित्य का आविर्भाव काल भारतीय इतिहास का वह युग है, जिसमें कोई सशक्त केन्द्रीय शक्ति नहीं रह गयी थी। पराक्रमी राजाओं द्वारा राज्य-विस्तार किये जाने, जब तक शक्तिशाली और योग्य शासक होते रहें तब तक दृढ़ता से राज्य संचालन करने और शक्ति क्षीण होने पर अधीनस्थ राजाओं के स्वतंत्र होते जाने की अनवरत प्रक्रिया चलती रहती थी। इसके परिणामस्वरूप बहुत सारी शक्ति आपसी युद्धों में नष्ट होती थी और बहुधा एक-दूसरे के लिए द्वेष के भाव मन में पलते रहते थे। जिनके प्रतिशोध का अवसर मिलने पर अनावश्यक संघर्ष छिड़ जाते थे। उस युग में मध्यदेश का महत्त्वपूर्ण केन्द्र कन्नौज था, जिसका अन्तिम वीर शासक गाहड़वाल जयचन्द था। दिल्ली-अजमेर में उस समय पृथ्वीराज चौहान भी एक वीर और योग्य शासक था। उस समय के इन दो महत्त्वपूर्ण वीर शासकों को आपसी द्वेष ने एक-दूसरे का शत्रु बना दिया। इनकी जो शक्ति मुहम्मद गोरी जैसे विदेशी आक्रमणकारियों को पराजित करके खदेड़ने में लगनी चाहिए थी, वह निरर्थक आपसी युद्धों में क्षय होती गयी। अन्ततः दोनों की इस दुर्बलता का लाभ उठाते हुए गोरी विजयी हुआ और इन दोनों ने आपसी आत्मघाती संघर्ष में अपने को समाप्त कर दिया।

इस वातावरण में राजा के लिए अन्य सद्गुणों के विकास के स्थान पर अपना शौर्य और पराक्रम प्रमाणित करना ही एकमात्र लक्ष्य रह गया था। अतः राज्याश्रित कवियों के लिए काव्य-रचना का प्रयोजन केवल अपने आश्रयदाता की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करना ही रह गया था। इसी कारण उनकी रचनाओं में इतिहास जैसी कोई चीज़ नहीं है। सारी रचना अतिशयोक्तियां और अपतथ्यों से भरी है।

धार्मिक आस्था के स्तर पर इस युग में एक समन्वयशील उदारता का भाव दिखाई देता है। हर्षवर्धन के समय तक शासकों द्वारा स्वीकृत धर्म के प्रचार-प्रसार के प्रमाण मिलते हैं, पर बाद में शासकों और शासितों के धार्मिक विश्वास अनिवार्यतः एक नहीं रहे। राजपूतों में शैव मत की मान्यता थी, जबकि जनता में बौद्ध धर्म के प्रभावस्वरूप अहिंसा की ओर झुकाव था। सामान्यतः लोग स्मार्त थे।

बारहवीं सदी के लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत में शैव मत की मान्यता, बौद्धमत के प्रभाव, स्मार्त धर्म और मुस्लिम आक्रमण के फलस्वरूप एक विजातीय संस्कृति के तत्त्वों के आ जाने से भारतीय मानसिकता में एक तरह की सहनशील और उदार निरपेक्षता का भाव विकसित हो गया था। राज्याश्रय के साथ धर्म-निष्ठा और लोक-मानस भी काव्य-रचना की प्रेरणाभूमि के रूप में सक्रिय था, इसलिए काव्य की कोई एक निश्चित सर्वसमावेशी प्रवृत्ति नहीं बन सकी थी। सामन्तीय काव्यधारा में जीवन को गति और दिशा देने की क्षमता का अभाव था। बौद्ध-सिद्धों और जैन आचार्यों में अपनी सीमाओं के बावजूद प्रगतिशीलता के तत्त्व विद्यमान थे। इस प्रकार व्यापक सांस्कृतिक सन्दर्भ को दृष्टि में रखकर देखा जाए तो आदिकाल में परम्परा-पोषण और रूढ़ि-भंजन दोनों की द्वन्द्वात्मक चेतना विद्यमान थी।

संदर्भ :

1. *हिन्दी साहित्य का आदिकाल*, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 39
2. वही, पृ. 42
3. वही, पृ. 44

2

चन्दबरदाई : जीवन-सन्दर्भ

चन्दबरदाई के जीवन सम्बन्धी तथ्यों को जानने का साधन उनकी रचना *पृथ्वीराजरासो* में आये उल्लेख और अनुश्रुतियाँ ही हैं। 'रासो' की प्रामाणिकता का प्रश्न हिन्दी साहित्य के सबसे लम्बे और गहनतम विवाद का विषय रहा है। इसके पक्ष-विपक्ष दोनों ओर एक से एक प्रतिष्ठित प्रकाण्ड विद्वानों का वर्ग रहा है। इस विवाद के भीतर से तथ्यों का सम्भावित रूप ढूँढ़ने के पहले भारतीय इतिहास-दृष्टि के वैशिष्ट्य को समझ लेना प्रासंगिक और ज़रूरी है।

यह सच है कि साहित्य और इतिहास दोनों सामाजिक विकास को प्रतिबिम्बित करनेवाले, अन्योन्याश्रित रूप से जुड़े अनुशासन हैं। इतिहास जिन सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रत्यक्ष निरूपण करता है, वे साहित्य में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान होती हैं। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को सही परिदृश्य में आँकने के लिए इन दोनों के अपेक्षित सम्बन्ध का विवेचन करने का अतिरिक्त महत्त्व इसलिए है कि वह 'रासो' के प्रामाणिकता विषयक विवाद (जिसका विस्तार आगे किया जाएगा) के भीतर से उपयोगी तत्त्वों के संधान में सहायक होगा।

इस संदर्भ के किसी निर्णय तक पहुँचने की चेष्टा आरम्भ करने से पहले जिस महत्त्वपूर्ण तथ्य की अनदेखी न करना आवश्यक है, वह है—भारतीय परम्परा में इतिहास विषयक धारणा। स्थान और काल-सापेक्ष तथ्यों का अनिवार्य निर्वाह करते हुए घटनाक्रम के जिस विवरण को इतिहास कहा जाता है, उसे भारतीय दृष्टि में कभी ख़ास महत्त्व दिया ही नहीं गया। सम्भवतः जीवनादर्शों की अध्यात्मोन्मुखता और सांसारिक जीवन की निस्सारता के भाव ने लौकिक जीवन के तथ्यों और घटनाओं के संकलन को कोई महत्त्व देने लायक़ वस्तु समझा ही नहीं। जीवन-दृष्टि की इस विशेषता के साथ भारतीय परम्परा की आदर्शोन्मुखता, पौराणिकता, कर्मफल की अनिवार्यता और भाग्यवादिता की मान्यताओं ने ऐतिहासिक तथ्यों पर भी कल्पना का रंग चढ़ा दिया। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने इस दृष्टि की व्याख्या

करते हुए कहा, "वस्तुतः इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है। ...और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजंधरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है। जायसी के रतनसेन, 'रासो' के पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना का, फ़ैक्ट्स और फ़िक्शन का अद्भुत योग हुआ है। ...यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियों का चरित्र लिखा जाने लगा, तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ। अन्त तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं। यही नहीं, सिद्धान्ततः काव्य में उस वस्तु का आना भारतीय कवि उचित नहीं समझता, जो तथ्य और औचित्य की भावनाओं में विरोध उत्पन्न करे, दुःखोद्रेचक विषम परिस्थितियों—ट्रैज़िक कॉण्ट्राडिक्शन्स की सृष्टि करे;... यही कारण है कि इन ऐतिहासिक काव्यों के नायक को धीरोदात्त बनाने की प्रवृत्ति ही प्रबल हो गई है, परन्तु वास्तविक जीवन के कर्त्तव्य, द्वन्द्व, आत्मविरोध और आत्म-प्रतिरोध जैसी बातें उसमें नहीं आ पातीं। ऐसी बातों के न आने से इतिहास का रस भी नहीं आ पाता और कथानायक कल्पित पात्र की कोटि में आ जाता है।"[1] उस युग के कवियों की मानसिकता को ठीक-ठीक पहचानने के लिए इतना लम्बा उद्धरण देना पड़ा है। इसी मानसिकता की पृष्ठभूमि में प्राचीन कवियों के जीवन-वृत्तान्तों और उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता के निर्धारण के लिए समकालीन उल्लेखों और सम्भावनाओं का आश्रय लेना पड़ता है। चन्दबरदाई के जीवन का निरूपण इसीलिए अनुमानों पर आश्रित है।

चन्दबरदाई के जीवन पर सबसे ज़्यादा विस्तार से विपिनविहारी त्रिवेदी ने विचार किया है। उन्होंने 'रासो' के अन्तःसाक्ष्य को आधार बनाकर कवि के जीवनवृत्त को एक क्रम देने की चेष्टा की है। कठिनाई यह है कि जिस *पृथ्वीराज रासो* के अन्तःसाक्ष्यों को उन्होंने आधार बनाया है, उसकी अपनी प्रामाणिकता हिन्दी-साहित्य में सबसे लम्बे और विकट विवाद का विषय रही है। इतिहास के प्रकाण्ड विद्वानों का जितना बड़ा वर्ग 'रासो' और उनमें उल्लिखित कवि की जीवनी दोनों को नितान्त अप्रामाणिक और अस्वीकार्य माननेवाला रहा है, उतना ही बड़ा विद्वत् समाज एक लम्बे समय तक इसे प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए दृढ़ संकल्प रहा है। इस प्रसंग पर आगे अलग से चर्चा की जाएगी। अभी इसका सन्दर्भ इसलिए आ गया कि चन्दबरदाई के जीवन सम्बन्धी तथ्यों का आधार *पृथ्वीराज रासो* और अनेक अनुश्रुतियाँ या पारम्परिक मान्यताएँ ही हैं। जहाँ अन्य स्रोतों से कोई विपरीत प्रमाण नहीं मिलता, उन्हें ग्रहण करते हुए शेष सूचनाएँ विवादों

के साथ संकलित कर ली गयी हैं। एक बहुत बड़ी कठिनाई इस नाते भी हुई है कि क्षेपकों के कारण इसी ग्रन्थ में अनेक ऐसे उल्लेख/वर्णन आए हैं, जो परस्पर विरोधी हैं। उनके भीतर से तथ्य का अन्वेषण भी एक समस्या रही है।

चन्दबरदाई के जन्म के सम्बन्ध में प्रचलित अनुश्रुति है कि उनका और पृथ्वीराज का जन्म तथा मृत्यु एक साथ ही हुई थी। लेकिन 'रासो' में स्पष्ट कहा गया है कि अपने श्वसुर अनंगपाल के यहाँ पुत्र के जन्म का समाचार सुनकर अजमेर-नरेश सोमेश्वर ने प्रसन्न होकर लोहाना और चन्द को बुलाया और घर के इन्द्र पृथ्वीराज को अजमेर लाने का कार्य सौंपा—

तव बुलाय सोमेसवर, लौहानी अरु चंद,
लै आवहु अजमेर घर, पहौते घरह सु इन्द।

(छंद 692 स.)

'रासो' में आद्योपान्त इस बात का बार-बार उल्लेख मिलता है कि पृथ्वीराज और चंदबरदाई दोनों का जन्म एक ही दिन एक ही मुहूर्त में हुआ था। अतः उपर्युक्त छंद की इस व्यंजना को ग्रहण करने में कठिनाई है कि पृथ्वीराज के जन्म के समय चंद इतने बड़े ज़िम्मेदार व्यक्ति के रूप में सोमेश्वर के दरबार में रह रहे थे कि उन्हें शिशु पृथ्वीराज को लाने के लिए अजमेर से दिल्ली भेजा जाए। विपिनबिहारी त्रिवेदी इस छन्द को क्षेपक मानकर इससे यह निष्कर्ष ग्रहण करते हैं, "इतना मान लेने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती कि चंद महाराज सोमेश्वर के समय में ही दरबार में आ गया था और उनका कृपापात्र भी था, जिसके अन्य बीसों प्रमाण 'रासो' में उपलब्ध हैं।"[2]

'रासो' के अन्तःसाक्ष्य पर चंद का जन्मस्थान लाहौर था।[3] चंद और पृथ्वीराज के साथ जन्म लेने की अत्यन्त प्रबल अनुश्रुति को स्वीकार किया जाए तो नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'रासो' के विद्वान् सम्पादकों के मतानुसार पृथ्वीराज का जन्म आनन्द विक्रम शक 1115 अर्थात् विक्रम संवत् 1206 ही चंद का जन्म संवत् भी होना चाहिए। विपिनबिहारी त्रिवेदी ने इस सम्बन्ध में आए परस्पर विरोधी प्रमाणों का कोई समाधान न कर पाने के कारण इस प्रसंग को उस मान्यता के साथ समाप्त कर दिया है कि पृथ्वीराज और चंद का जन्म एक साथ ही हुआ था। राजदरबारों में चंद के ससम्मान प्रतिष्ठित होने का बराबर उल्लेख आया है, बल्कि बहुधा चंद के वैभव और ऐश्वर्य का अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हुआ है। इससे निष्कर्ष यही निकाला जाना उचित लगता है कि चंद पृथ्वीराज के सम्मानित दरबारी और आत्मीय मित्र रहे होंगे।[4]

'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'रासो' के अनुसार चंद के पिता का नाम बेन था, जो पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के साथी थे। विपिनबिहारी त्रिवेदी ने 'चंद-छंद बरनन की महिमा' में चंद के पिता राव बेन द्वारा सोमेश्वर को आशीष दिए जाने का सन्दर्भ दिया है। पर इनके साथ ही 'रासो' के छंदों को प्रस्तुत कर विस्तार से विचार कर चंद के पिता का नाम 'मल्ह' होना स्वीकार किया है।[5] दिल्ली और अजमेर के दरबारों में चंद का जीवन सम्मान और सुख से बीता था। पृथ्वीराज के साथ जन्म लेने, बचपन से साथ-साथ रहने और प्रगाढ़ स्नेह सम्बन्ध का स्मरण कर चंद दुःखी होते हैं—

कहै तास कवि चंद अहौ वीराधिवीर सुनि,
हम मनुष्य मय मोह, उदधि बुड्ढै सुतत्त तुनि।
हमहिं राज इक बास, सथ्य उत्पन्न संग सदि।
नेह बंध बंधियै करिय अति प्रीति राज रिदि।
सामन्त सकल अति प्रेमतर, बाल नेह उर धुर कियो।
बलिभद्र नेह संसार सुख किस सुनेह छँडै जियौ।

—छन्द 1702, स. 66

अर्थात्, तब कवि चंद ने कहा कि हे श्रेष्ठ वीर सुनो, हम साधारण मनुष्य मोह सागर में डूबे हैं, हम और राजा पृथ्वीराज साथ ही पैदा हुए तथा एक स्थान पर रहते हुए सदैव साथ रहे, स्नेह के बन्धन में तो बँधे ही थे, परन्तु राजा मुझसे हृदय से प्रेम करते थे, सारे सामन्त भी बहुत प्रेम करते रहे हैं, बाल्यकाल से संचित होनेवाले स्नेह ने हृदय में घर कर लिया है। हे बलिभद्र (देव वीरभद्र), संसार में सुख देनेवाले स्नेह को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

चंद के कई पुत्र थे, जिनमें से जल्हण ने उनके अधूरे छूटे काव्य को पूरा किया—

आदि अंत लगि वृत्त मन, वृन्नि गुनी गुन काज।
पुस्तक जल्हन हस्त दै, चलि गज्जन नृप काज।

छं. 85, स. 67

अर्थात्, आदि से अन्त तक का सम्पूर्ण वृत्तान्त कहकर तथा राजा के गुणों का वर्णन कर कवि चंद ने जल्हण के हाथ में पुस्तक सौंप दी और राजा के कार्य के लिए ग़ज़नी चल पड़े।

चंद ने स्वयं अपने आपको भट्ट जातीय बताया है। इनका नाम चंदबरदाई प्रसिद्ध है। *पृथ्वीराज रासो* के अनुसार 'बरदाई' का अर्थ है कि चंद को देवी

सरस्वती का वरदान प्राप्त था। म.म. हरप्रसाद शास्त्री ने प्रारम्भिक खोज रिपोर्ट में बरदाई उपाधि का 'ज्वाला देवी से वर प्राप्त होना' अर्थ किया है, 'चंद की बरदाई उपाधि का अर्थ है कि उसने एक देवी से कवि होने का वरदान प्राप्त किया था।... बरदाई सम्भवतः अशुद्ध है, इसे वरद्दिय होना चाहिए। पठानों में बरदाई नामक एक जाति होती है, जिसके लोग अपने को चंद का वंशज कहते हैं और अपने पूर्वपुरुषों का बलात् मुसलमान बना दिया जाना बतलाते हैं।'[6] वरदान प्राप्त होने के परिणामस्वरूप चंद में असामान्य सिद्धि थी, जिसके बल पर वह जो कुछ घटित होनेवाला है या हुआ है, वह सब जान जाते थे। कैमास-वध के प्रसंग में चंद ने इसको प्रमाणित किया था।

डॉ. नामवर सिंह सुदृढ़ जनश्रुति के आधार पर चंद वलद्दिय को रासो का रचनाकार मानते हुए और बलद्दिय नाम को स्वीकार करते हुए भी उसकी व्याख्या इस रूप में करते हैं, "जिन्होंने चंद बरद्दिय नाम को स्वीकार किया है, उन्होंने ही बलद्दिय को शुद्ध करके 'वरदायी' कर दिया है, जिसका अर्थ उनके अनुसार 'वर देनेवाला' अथवा 'जिसे दुर्गा ने वर दिया हो' होता है। वस्तुतः यह 'वलीवर्द' का ही तद्भव रूप है, जो 'नरवृषभ' की तरह आदरार्थ विरुद की तरह जोड़ा जाता है। इसकी पुष्टि उस प्रसंग से भी होती है, जिसमें जयचंद चंद के 'बलद्द' विरुद पर व्यंग्य करते हुए पूछता है 'क्यों दूबरो बरद्द?'[7] यहाँ जिस घटना की ओर संकेत है वह इस प्रकार घटित हुई थी। कनवज्ज (कन्नौज) युद्ध के अवसर पर चंद जयचंद के दरबार में पहुँचा और जयचंद की विरुदावली यह कहकर समाप्त की कि छत्तीसों वंशों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली, सिवाय यशस्वी चौहान के।[8] इससे जयचंद मर्माहत हुए और कवि को लक्ष्य कर श्लेष के सहारे यह कटूक्ति कही—

मुह दरिद्र अरु तुच्छ तन, जंगलराव सुहद्द।
बन उजार बन पशुचरन, क्यों दूबरो बरद्द।

छं. 580

अर्थात् मुँह का दरिद्री, तुच्छ शरीरवाला, जंगलराव के राज्य में रहने वाला तथा वन उजाड़नेवाला पशु बरद क्यों दुबला है? यहाँ जंगलराव और बरद्द के दुहरे अर्थ हैं 1. जंगलेश अर्थात् पृथ्वीराज और 2. जंगल का राजा भील तथा पशु बरद—1. बरदाई अर्थात् चंद कवि और 2. बैल।

चंद ने तुरंत उत्तर दिया—

चढ़ि तुरंग चहुआन, आन फेरीति परद्धर।
तास युद्ध मंडयौ जास जानयौ सबर बर।
केइक तकि गहि पात केइ गहि डार मूर तर।
केइक दंत तुच्छ त्रिन्न गए दस दिसनि भाजि डर।
मुअ लोकत दिन अचिरिज भयौ मान सबर बर मरदिया।
पृथिराज षलन षद्धौ सुयो दुब्बरौ बरद्दिया।

—छ. 581

अर्थात् उस जंगलराव ने घोड़े पर चढ़कर दूसरों की भूमि में अपनी दुहाई फेर दी, सबलों को युद्ध में पराजित किया, उसको देखकर अनेकों ने अपने मुँह में पत्ते दबा लिये, किसी-किसी ने वृक्षों की डालें और जड़ें पकड़ लीं और कोई-कोई अपने दाँतों में तिनके दबाकर दसों दिशाओं में भाग खड़े हुए, उस दिन भूलोक में बड़ा आश्चर्य हुआ, जब सब सबलों का मान-मर्दन कर दिया गया। इस प्रकार पृथ्वीराज के शत्रुओं ने सारी घास खा डाली और इसी से बरद्दिया (1. बैल, 2. बरदाई चंद) दुबला हो गया।' इसके बाद भी जयचंद की व्यंग्यपूर्ण चुटकियों और वैसे ही व्यंग्यपूर्ण सटीक जवाबों का लम्बा सिलसिला है, जिससे चंद की निर्भीकता एवं वाक्-कौशल, प्रत्युत्पन्नमतित्व और व्यवहारकुशलता का परिचय मिलता है।

चंद की, षड्भाषाओं का ज्ञाता होने की, प्रसिद्धि थी। चंद ने स्वयं अपने महाकाव्य का परिचय देते हुए कहा था—

उक्ति धर्म विशालस्य राजनीति नवं रसं
षट भाषा पुराणं च, कुराणं कथितं मया।

छं. 82

अर्थात् इस महाकाव्य में विशाल धर्म की उक्तियाँ हैं, राजनीति और नव रसों का वर्णन हुआ है तथा छः भाषाओं, पुराण और कुरान का मैंने कथन किया है। जयचंद के दरबार में उसका परिचय देते समय भी उसके षड्भाषाज्ञानी होने का उल्लेख किया गया है—

भाषा षट नवरस पढ़त, वर पुच्छै कविराज (छं. 555)

अपना परिचय देते हुए चंद का कहना है—

षट भाष रस्स नव नट्ट नाद, जानो विवेक विच्चार वाद।

(छं. 179)

इन सबसे उसके बहुभाषाविद् होने की प्रसिद्धि प्रमाणित होती है। इन छः भाषाओं में रुद्रट, वाग्भट आदि सभी ने संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश की गणना की है, जो उस समय साहित्य-रचना और बोलचाल के माध्यम के रूप में प्रचलित थीं।

दौत्यकार्य में चंद की कुशलता के ऐसे अनेक उदाहरण आए हैं, जहाँ उसने अत्यन्त कठिन परिस्थितियों को अपनी सूझ-बूझ से सँभाल लिया है। यहाँ एक उदाहरण पर्याप्त होगा। पृथ्वीराज ने गुजरात के राजा भीमदेव से पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए चढ़ाई की और गुर्जरराज को उत्तेजित करने के लिए चंद से लाल पगड़ी और लाल चोली दो उपहारों में से जो पसन्द हो उसे ग्रहण करने का संदेश भिजवाया। चंद ने गले में जाल और नसैनी डाली, एक हाथ में कुदाल और दीपक लिया, दूसरे हाथ में अंकुश और काला त्रिशूल लिये हुए गुर्जर नरेश के दरबार में पहुँचा। अपने विचित्र वेष से सबका ध्यान आकृष्ट कर राजा का संदेश कह लेने के बाद चंद ने आडम्बरपूर्ण वेष की व्याख्या यों की—

एन जाल संग्रहो जाम जल भीतर पड्डयौ।
इन नीसरनी ग्रहो जाम आकासह चढ्ढयौ।
इन कुदाल खनौ जाम पायाल पनट्ठौ।
इन दीपक संग्रहौ जाम अंधारै नट्ठौ।
इन अंकुस असि वसि करौं इन त्रिसूल हनि हनि सिरौं।
जगमगे जोति जग उप्परै तो डर प्रथम नरिंदरै।

—छं. 103

चंद ने कहा कि पृथ्वीराज का कहना है कि यदि भीमदेव जल में छिपेगा तो उसे जाल से पकड़कर खींच लाऊँगा, यदि आकाश में जाएगा तो नसैनी लगाकर पकड़ लाऊँगा, यदि अंधकार में छिपेगा तो दीपक लेकर ढूँढ़ लाऊँगा, अंकुश से उसे अपने वश में करके त्रिशूल से हन डालूँगा। आगे उत्तरों और प्रत्युत्तरों का लम्बा सिलसिला चला है। यह एक उदाहरण चंद के इस गुण का द्योतक है कि अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए वह किस तरह बुद्धिमत्तापूर्ण चतुराई से कार्य करता था। चंद को गुर्जर-नरेश को भड़काकर युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए भेजा गया था, उसमें वह कृतकार्य हुआ।

चंद की मृत्यु के सम्बन्ध में अत्यन्त प्रसिद्ध अनुश्रुति का पीछे उल्लेख आया है। प्रसिद्ध है कि मुहम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर ग़ज़नी

ले जाने का समाचार सुनकर चंद अत्यन्त दुखी हुआ। उसने देवी की कृपा से दो मास आधे दिन (या ढाई मास) में सात हज़ार छन्दोंवाला *पृथ्वीराज रासो* नामक विशाल ग्रंथ रच डाला। उसके बाद उसने अपने पुत्र *जल्ह* को पोथी सौंपकर सबसे विदा ली और राजा के कार्य के लिए ग़ज़नी चल पड़ा।[9] अनुश्रुति के अनुसार ग़ज़नी पहुँचकर चंद ने नाना प्रकार से प्रयत्न कर शाह से भेंट की और पृथ्वीराज की शब्दवेधी बाण चलाने की कुशलता का ऐसा वर्णन किया कि गोरी उस कौशल को प्रत्यक्ष देखने के लिए उत्सुक हो उठा। भरे दरबार में गोरी द्वारा आज्ञा दिये जाने से उसके बैठने की दिशा और दूरी का बोध सुगम हो गया और पृथ्वीराज ने शब्दबेधी बाण द्वारा गोरी का वध कर दिया। चंद ने अपनी पगड़ी से कटार निकालकर आत्महत्या कर ली और पृथ्वीराज ने भी उसी कटार से अपने को मार लिया।

'रासो' की प्रामाणिकता की तरह पृथ्वीराज की मृत्यु के इस ब्यौरे की अनैतिहासिकता से क्षुब्ध होकर सी. वी. वैद्य का कहना है, "पृथ्वीराज का अपना जीवन अंत करने का रासोवर्णित वृत्तान्त उसकी अनैतिहासिकता की सीमा है। यह प्रतिशोध की प्रचलित गाथा है।... पृथ्वीराज की मृत्यु पानीपत में जनकोजी सिंधिया और भाउ साहब की मृत्यु सदृश अभी तक रहस्यगर्भित बनी हुई है।"[10] अलग-अलग ग्रन्थों में अलग-अलग विवरणों को देखते हुए डॉ. वैद्य का कहना है कि 'यह तय करना कठिन है कि पृथ्वीराज की मृत्यु किस प्रकार हुई, पर यह विश्वास किया जा सकता है कि पृथ्वीराज सरस्वती पर बन्दी हुए और तुरन्त ही उन्हें मार डाला गया। जैसा कि तबक़ात में लिखा है।'[11] इसी तरह डॉ. ए. वी. एम. हबीबुल्ला ने भी इस बात की पुष्टि करते हुए, निकल भागने के प्रयत्न में सरस्वती के निकट पृथ्वीराज को बन्दी बना लिये जाने और कुछ समय बाद विश्वासघात का अपराधी पाकर मृत्युदण्ड दिये जाने का उल्लेख किया है।[12]

इन दो नितान्त विपरीत ब्यौरों के बीच क्या कोई बुद्धिसंगत कारण सम्भव है? इसका संधान करना आवश्यक है। प्रसिद्ध इतिहासकार रघुबीर सिंह ने इस इतिहासविरुद्ध विवरण के औचित्य का मूल खोजने का प्रयास किया है। यह सच है कि एक लम्बे समय से 'रासो' का प्रचार होता चला आया और लोक-कण्ठ में जीवित रहनेवाली इस रचना में लगभग सत्रहवीं सदी तक प्रक्षेप होते रहे हैं। इसके बृहत् और लघु संस्करणों की तुलना करने से मूल कथा का कुछ अनुमान भले ही हो जाए, पर कथानक का जो ढाँचा लघु और लघुतम रूपान्तरों में पाया जाता है, वह बहुत भिन्न नहीं है।

घटनाओं और कथानक की ऐसी अनैतिहासिकता आश्चर्यजनक है, ख़ासकर

तब, जब चन्द पृथ्वीराज का समकालीन, मित्र और उनके दरबार का सम्मानित राजकवि अर्थात् सारे घटनाक्रम का प्रत्यक्ष द्रष्टा था। डॉ. रघुबीर सिंह इस प्रश्न की समुचित व्याख्या करने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य को सामने रखते हैं। तराई के युद्ध के बाद का युग, ख़ासकर 1206 ई. में दिल्ली में, मुसलमान सल्तनत की स्थापना के पश्चात् का युग, उत्तर भारत के हिन्दू राजाओं के लिए घोर संकट का काल था। उस पराजित मनोभूमि में नयी स्फूर्ति और प्रेरणा उत्पन्न करने के लिए भूतपूर्व वीर शासकों के प्रति आस्था और श्रद्धा जागृत करना आवश्यक था। राजमल बोरा के अनुसार चंदबरदाई, "देशकाल की तत्कालीन परिस्थितियों को समझकर और अपने पराजित समाज की आवश्यकताओं को देखते हुए, अपने इस काव्य को भारतीय लोकमानस की भावनाओं, आकांक्षाओं तथा तज्जन्य मान्यताओं के अधिक अनुरूप और साथ ही विशेषरूपेण उनका परिपूरक बनाने के लिए पृथ्वीराजकालीन ऐतिहासिक विवरण तथा इतिहासमान्य घटनावली में अनेकों आमूल परिवर्तन और परिवर्द्धन करने लगा।"[13] पीछे डॉ. वैद्य और हबीबुल्ला के वे प्रमाण दिये गये हैं, जिनके द्वारा तराई के युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय, उनका सरस्वती के निकट बन्दी बनाया जाना और विजेताओं द्वारा उनकी हत्या जैसी दुखद किन्तु कटु सत्य घटनाओं को पूर्ण ऐतिहासिक माना गया है। इन घटनाओं का अपने चरितनायक के गौरव के अनुरूप प्रतिकार करना चंद के लिए अत्यन्त आवश्यक था। अतः उसे ग़ज़नी जाकर नेत्रविहीन राजा द्वारा शब्दवेधी बाण से गोरी के मारे जाने की घटना की कल्पना करनी पड़ी, जो उसके आश्रयदाता की वीरगाथा के नाटकीय समापन के लिए आवश्यक थी। वेणीप्रसाद वर्मा ने भी चंद को काव्य के खलनायक मुहम्मद गोरी को इस तरह दण्डित होता हुआ दिखाकर चरितनायक पृथ्वीराज की प्रतिष्ठा और सम्मान की रक्षा कर जनमानस में उसकी लज्जाजनक पराजय की कथा को तिरोहित कर गौरवपूर्ण विजय के रूप में परिवर्तित कर देनेवाला कहा है।[14]

परिणाम यह हुआ कि 'वास्तविक कथावस्तु और ऐतिहासिक घटनावली में चंदबरदाई द्वारा किये गये व्यतिक्रम तथा सर्वथा इतिहासविरुद्ध मनगढ़न्त स्थापनाएँ बिना ननु नच के उसी श्रव्य लोककाव्य द्वारा प्रचारित होने लगीं।'[15] यहाँ तक कि इस प्रकार के प्रचलित लोक काव्यों में फैली ये कथाएँ तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों/विवरणों में मान्य हो गईं। जैसे दिल्ली के पास पालम की बावड़ी में 1280 ई. और सारवन गाँव के 1328 ई. के शिलालेखों में तोमरों के बाद दिल्ली पर चौहान राजाओं के शासन करने का जो उल्लेख हुआ है, उसमें वस्तुतः चंदबरदाई द्वारा प्रचारित दिल्ली-दान सम्बन्धी कथानक ही प्रतिध्वनित हुआ है।[16]

चंद की स्थापनाओं के कितने आश्चर्यजनक परिणाम रहे हैं, इसका सबसे प्रबल प्रमाण है अत्यन्त सजग इतिहासकार और फ़ारसी के ऐतिहासिक आधारग्रन्थों के विद्वान अबुल फ़ज़ल द्वारा चंद के उल्लेखों की स्वीकृति। अबुल फ़ज़ल ने दिल्ली के अन्तिम हिन्दू शासक के रूप में पृथ्वीराज को स्वीकार कर एक नितान्त इतिहासविरुद्ध तथ्य पर ऐतिहासिकता की मुहर लगा दी।[17]

निष्कर्ष

इतिहासपोषित तथ्यों को समाविष्ट करने की अपेक्षा वीर भावना के आदर्श और कल्पनाजन्य सरस रमणीयता से सुसज्जित कथा-लोक की सृष्टि होने के कारण 'रासो' के रचनाकार के जीवन के सम्भाव्य रूप तक पहुँच पाने से अधिक की अपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी भी तरह प्रमाणित न हो पाने की स्थिति में, तद्‌युगीन परिस्थितियों से उपजी मानसिकता की कल्पना के सहारे, घटनाओं के व्यतिक्रम की संगति बैठानी पड़ी है। अतः अनुमान और कल्पना के ताने-बाने से चंदबरदाई के नाम, जन्म, माता-पिता आदि जीवन के ब्यौरों को साकार करने का प्रयास किया गया है।

संदर्भ :

1. *हिन्दी साहित्य का आदिकाल,* ह. प्र. द्विवेदी, पृ. 77
2. *चंदबरदाई और उनका काव्य,* विपिन बिहारी त्रिवेदी, पृ. 1
3. *पृथ्वीराज रासो,* छं. 584, सं. 1
4. वही, पृ. 13 पर उद्धृत
5. *चंदबरदाई और उनका काव्य,* विपिन बिहारी त्रिवेदी, पृ. 16
6. चारण काव्य की प्रारम्भिक खोज रिपोर्ट, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल, परिशिष्ट, पृ. 25
7. *पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य,* नामवर सिंह, पृ. 247
8. छं. सं. 569-77 सं. 61
9. *पृथ्वीराज रासो,* समय 67, छन्द 11-85
10. *हिस्ट्री ऑफ मेडिवल हिन्दू इण्डिया,* सी. वी. वैद्य, भाग-3, अ.20, पृ. 385
11. वही, पृ. 385
12. *द फाउण्डेशन ऑफ़ मुस्लिम रूल इन इण्डिया,* ए. बी. एम. हबीबुल्ला, पृ. 58-59
13. *पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य,* राजमल बोरा, पृ. 10
14. वही, पृ. 11
15. वही, पृ. 11
16. *जरनल ऑफ़ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल,* भाग 43, पृ. 104-110
17. *आइने अकबरी,* अंग्रेज़ी अनुवाद, खण्ड-2, पृ. 302-305-307

3

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

पृथ्वीराज रासो एक अत्यन्त लोकप्रिय श्रव्य काव्य के रूप में प्रचलित था। सन् 1570 के उत्तरार्ध में अकबर ने अपने दरबारे-ख़ास में गंग भाट से चंदबरदाई कृत इस काव्य को सुना था। अभिलेखागार की स्थापना और अपने शासनकाल की घटनाओं तथा शासन व्यवस्था सम्बन्धी अध्यादेशों के विवरण-संग्रह का दायित्व उसने अबुल फ़ज़ल को सौंपा। अबुल फ़ज़ल ने *पृथ्वीराज रासो* को 'हिन्दू इतिहास' का गौरव प्रदान किया और इससे प्राप्त वृत्तान्तों का गहरा अध्ययन किया।[1] इतने बड़े इतिहासकार द्वारा दिये गये इस सम्मान का बहुत दूरागत प्रभाव पड़ा।

इसके बाद 19वीं सदी के आरम्भिक काल में राजस्थान के प्रथम विस्तृत इतिहास के प्रणेता कर्नल जेम्स टॉड ने इसे पृथ्वीराज के काल में 'सर्वव्यापक इतिहास' के रूप में सर्वत्र समादृत ग्रन्थ स्वीकार किया।[2] सन 1829 तथा 1832 में टॉड के *एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज़ ऑफ़ राजस्थान* के दो भाग प्रकाशित हुए। इसमें लेखक ने *पृथ्वीराज रासो* का उपयोग किया। ऐतिहासिक प्रामाणिकता के निर्वाह के प्रति टॉड के आग्रह और उनके श्रम का अनुमान इससे किया जा सकता है कि उनके हस्तलिखित ग्रंथों के विशाल संग्रह में केवल 'रासो' की 12 प्रतियाँ थीं। 'रासो' जैसे काव्य-ग्रंथों से प्राप्त सामग्री की प्रामाणिकता के बारे में टॉड को कोई भ्रम नहीं था, "भारत की ऐतिहासिक सामग्री के लिए उसके युद्ध सम्बन्धी काव्य भी सहायता करते हैं। लेकिन कविता और इतिहास दोनों दो चीज़ें हैं... कवि प्रशंसा के पुरस्कार के रूप में धन प्राप्त करता है और उसके ऐसा करने से तथ्यों की ईमानदारी में अन्तर आ जाता है। कवि का पक्षपात और विद्रोह दोनों ही इतिहास के लिए घातक हैं। वह अपनी दोनों आस्थाओं में सत्य से दूर निकल जाता है। युद्ध सम्बन्धी काव्यों में इस प्रकार के दोष स्वाभाविक रूप से आते हैं।... इस प्रकार के दोष होते हुए भी भारतीय भाटों की पुस्तकों से इतिहास की बहुत-सी सामग्री प्रस्तुत की जा सकती है।"[3]

टॉड ने अपनी इस मान्यता का निर्वाह किया और उन काव्यों के कथानकों को ऐतिहासिक रूप में प्रस्तुत करते हुए 'रासो' की आन्तरिक वीर-भावना को जीवित रखा है। उन्होंने 'रासो' की हस्तलिखित प्रतियों का जिस प्रेम और रुचि से अध्ययन किया था और संयोगितावाले कथानक का अंग्रेज़ी में काव्यानुवाद प्रस्तुत किया, वह इस ग्रंथ के प्रति उनकी श्रद्धा का प्रमाण है। पूरे 'रासो' का अंग्रेज़ी में काव्यानुवाद करने की उनकी प्रबल इच्छा थी, जो उनकी असमय मृत्यु के कारण पूरी नहीं हो सकी। इस प्रकार आइने अकबरी के उल्लेख के बाद कर्नल टॉड ने 'रासो' को अभूतपूर्व गौरव और प्रतिष्ठा प्रदान की। उसने अनुवाद के दौरान 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' के जर्नल में निबन्ध लिखकर 'रासो' की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया।

'रासो' की प्रामाणिकता पर विचारक्रम में अगला उल्लेखनीय नाम है सूर्यमल्ल मिश्रा, जिन्होंने *वंश-भास्कर* (1840-1860 ई.) नामक इतिहास ग्रंथ में जिन थोड़े-से ग्रन्थों का नामोल्लेख किया, उनमें *पृथ्वीराजरासो* भी है। यह भी ध्यान देने की बात है कि उन्होंने नामोल्लेख मात्र ही नहीं किया, अपितु, बहुत-सी घटनाओं के सन्दर्भ में 'रासो' के विवरणों की चर्चा भी की है और बहुधा रासो की सूचनाओं का आधार स्वीकार किया है। आश्चर्य का विषय यह है कि 'रासो' को अविश्वसनीय कहते हुए भी उन्होंने उसके विवरणों को स्वीकार कर लिया है,

भई यो न तो ज्यों भई, होय सत्यतिम होहु।
कही चंद सुहि हम कहत, घटहु प्रमान न कोहु ॥[4]

'रासो' की असंगतियों को मानते हुए उसमें वर्णित सम्बद्ध घटनाओं और संवत् लेने के पीछे इसके अलावा क्या औचित्य हो सकता है कि उसने ग्रंथ की प्रसिद्धि के नाते इसका उपयोग करने के साथ संदेह भी उत्पन्न कर दिया।

सन् 1784 में स्थापित 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल' ने भारतीय साहित्य और उसके अध्ययन कार्य को आगे बढ़ाने में पाश्चात्य विद्वानों की रुचि उत्पन्न करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। टॉड ने 'रासो' की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कर ही दिया था। उनके द्वारा किए गये अधूरे अनुवाद-कार्य ने भी विद्वानों को समुत्सुक बना दिया था। एफ़. एस. ग्राउज़ ने 'पोएम्स ऑफ़ चंदबरदाई' नामक निबन्ध द्वारा 'रासो' के प्रकाशन की आवश्यकता पर बल दिया।[5] उनके प्रस्ताव को मानकर सोसाइटी ने उन्हें इस काव्य की परीक्षा कर रिपोर्ट देने का निर्देश दिया। सामग्री-संकलन में सहायता के लिए सोसाइटी ने उन्हें आगरे वाली प्रति उपलब्ध करा दी और ग्राउज़ ने स्वयं काशीनरेश के पास की *पृथ्वीराज रासो*

नाम की प्रति भी प्राप्त कर ली। 'रासो' के प्रकाशन में अपनी रुचि के नाते ग्राउज़, सोसाइटी को बराबर विभिन्न प्रतियों पर अपने अध्ययन का ब्यौरा देते रहे। इस बीच बीम्स ने 1869 में एक लेख लिखा और *पद्मावती समय* का अनुवाद[6] भी प्रकाशित कराया। इस सन्दर्भ में बीम्स और ग्राउज़ के अनुवाद के औचित्य के पक्ष-विपक्ष में लम्बी बहस चली, जो 'रासो' की भाषा और व्याकरण पर विचार की शुरुआत थी। गार्सा द तासी, जेम्स मॉरिसन, रूसी विद्वान् राबर्ट लेंज, ग्रियर्सन और बूलर आदि विद्वान् भी 'रासो' के अध्ययन में प्रवृत्त हुए। यह सारा अध्ययन और विचार-विमर्श हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर हो रहा था। 1973 ई. में कलकत्ते से आदि पर्व का कुछ अंश प्रकाशित हुआ तब तक डॉ. बूलर ने 1893 में जयानक कृत *पृथ्वीराज विजय* नामक संस्कृत काव्य के आधार पर अनेक ऐतिहासिक असंगतियाँ देख कर 'रासो' के जाली होने का संदेह बताया और उन्होंने उसका प्रकाशन रुकवा दिया। ग्रियर्सन जैसे पहले समर्थन करनेवाले विद्वानों की भी राय बदल गई और 'रासो' को पूर्णतः जाली रचना घोषित कर इसका प्रकाशन बन्द कर दिया गया।

ऐतिहासिक आधारों पर 'रासो' के अप्रामाणिक ग्रंथ कहनेवालों में सबसे प्रमुख थे—श्यामलदास। इन्होंने अपने *वीरविनोद* ग्रंथ में और एशियाटिक सोसाइटी जर्नल के कलकत्ता से निकलनेवाले अंक में 'रासो' को सर्वथा जाली ग्रंथ घोषित कर दिया। उनके इन लेखों ने एशियाटिक सोसाइटी के सदस्यों, ख़ासकर बूलर के मत-परिवर्तन को भी इतना प्रभावित किया कि उन्होंने इसका प्रकाशन का कार्य ही बन्द करा दिया। *वीर विनोद* इतिहास ग्रंथ था, जिसके संदर्भ में 'रासो' की अनैतिहासिकता ने उन्हें इसे 'जाली ग्रंथ' कहने को विवश किया।

बीम्स द्वारा सम्पादित प्रकाशन के बन्द हो जाने पर 'रासो' की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील होनेवाले व्यक्तियों में प्रमुख थे—मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या। वे भी एशियाटिक सोसाइटी के आजीवन सदस्य थे, पर अन्य सदस्यों पर उनका ज़्यादा प्रभाव नहीं था। 'रासो' का प्रकाशन बन्द होने पर वे दुःखी हुए और उसकी प्रामाणिकता पर अपने दृढ़ विश्वास के बल पर उन्होंने 1887 में मेडिकल हॉल प्रेस, वाराणसी से 'रासो' का पहला भाग प्रकाशित किया। 1906 में श्यामसुन्दरदास और राधाकृष्णदास जैसे कर्मठ विद्वानों के समर्थन के नाते पंड्या जी को 'नागरी प्रचारिणी सभा' का सहयोग प्राप्त हुआ। 1912 में पंड्या जी के स्वर्गवास के बाद 1913 में उनके ही द्वारा सम्पादित 13वाँ भाग प्रकाशित हुआ। परन्तु इस असामयिक मृत्यु के कारण उनके द्वारा लिखी जानेवाली भूमिका नहीं लिखी जा सकी। अपने दृढ़ विश्वास के बल पर ही पंड्याजी श्यामलदास

जैसे विरोधी का सामना कर सके। श्यामलदास का सोसाइटी के सदस्यों पर इतना प्रभाव था कि उसके नाते डॉ. बूलर और ग्रियर्सन जैसे विद्वानों ने 'रासो' को पूर्णतया जाली ग्रंथ करार दिया था। सोसाइटी के सदस्य होते हुए भी पंड्या जी अपने पक्षपोषकों का कोई दल नहीं बना सके थे, उनके सारे प्रयास व्यक्तिगत स्तर के ही थे। आरम्भ में उनकी अपनी भी 'रासो' के प्रति उपेक्षा और अनादर की भावना थी। पर राजपूताने में उसकी सर्वप्रियता और सर्वमान्यता देखकर उसे जानने की अपनी उत्कण्ठा के सम्बन्ध में वे स्वयं कहते हैं, "मैंने उसका थोड़ा-सा भाग कोटा के प्रसिद्ध कविराज चंडीदान जी से पढ़ा... पढ़ते ही 'रासो' मेरे मन में आकर्षण का केन्द्र हुआ और मेरे मन के सब सन्देह मिट गए।"[7]

पंड्या जी ने कविराज श्यामदास के लेख का उत्तर देते हुए, सन् संवतों के संदर्भ में चंडीदान जी से प्राप्त समाधानों के आधार पर अपने तर्क दिये हैं और उनको प्रामाणिक सिद्ध किंया है। 26 वर्षों तक इसके सम्पादन के दौरान पंड्याजी अपने विरोधियों का उत्तर देते रहे।

इस प्रकार 'रासो' का बृहद् संस्करण प्रकाशित हुआ। प्रकाशन पूर्व काल के इस विवाद का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि 'रासो' को इतिहास का ग्रंथ मानकर यह सारा विवाद शुरू हुआ। इसका समाहार करते हुए राजमल बोरा का कहना है, "इसमें 'रासो' को इतिहासग्रंथ मानकर सारा विवाद हुआ। साथ ही, यह अध्ययन हस्तलिखित ग्रंथों के आधार पर किया गया। सभी विद्वान् उदयपुर से सम्बन्धित प्रतियों एवं उन प्रतियों की प्रतिलिपियों का अध्ययन कर रहे थे। हस्तलिखित प्रतियों की प्रामाणिकता की ओर विद्वानों का ध्यान गया ही नहीं। उन्होंने हस्तलिखित प्रतियों की ऐतिहासिक छानबीन नहीं की।"[8]

बृहद् संस्करण के रूप में प्रसिद्ध 'रासो' के ग्यारह समय, 1987 ई. से 1906 ई. के बीच, अकेले पंडया जी द्वारा सम्पादित हुए। बारहवें समय से श्यामसुन्दरदास और राधाकृष्ण का सहयोग मिलने लगा। 1906 ई. से 'नागरी प्रचारिणी सभा' से सहयोग प्राप्त होने से कार्य तेज़ी से होने लगा और 1913 ई. तक 2615 पृष्ठों में 69 समय प्रकाशित हुए। अब इसके बाद प्रामाणिकता सम्बन्धी विवाद का केन्द्र हस्तलिखित प्रतियों की बजाय यह बृहद् संस्करण हो गया।

'रासो' की प्रामाणिकता को मान्य अथवा अमान्य ठहरानेवाले प्रमुख विद्वानों में मिश्रबन्धुओं का विशेष स्थान है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिए सामग्री संकलन के प्रयोजन से हिन्दी के प्रमुख कवियों सूर, तुलसी, देव, बिहारी और केशव के साथ हिन्दी के नवरत्नों में चंद भी शामिल किये गये। ऐतिहासिक तिथियों की प्रामाणिकता की परीक्षा कर 'रासो' को जाली ठहराने की अब तक

की परम्परा में पहली बार मिश्रबन्धुओं ने साहित्यिक कृति के रूप में रासो के महत्त्व का विवेचन करने की शुरुआत की। उन्होंने 'रासो' के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर जीवन सम्बन्धी तथ्य जुटाए, चंद का समय इन्होंने 1226 से 1193 ई. के बीच माना, उन्हें ब्रह्मभट्ट जाति में उत्पन्न कहा और लाहौर में उनका जन्म होना माना। इस ग्रंथ को जाली मानने से क़तई इनकार कर मिश्रबन्धुओं ने अपनी तरह से तर्क दिए।[9] यही नहीं, अपनी मान्यताओं के विरुद्ध रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा द्वारा ऐतिहासिक आधारों पर 'रासो' को अप्रामाणिक सिद्ध करने सम्बन्धी आपत्तियों का उत्तर दिया। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने कर्नल टॉड की तरह राजस्थान की रियासतों में जा-जाकर तथ्यसंग्रह का कार्य किया। 'रासो' के विषय में उन्हें जो जानकारी प्राप्त हुई उस आधार पर उन्होंने भी चंद की प्राचीनता और 'रासो' की प्रामाणिकता के पक्ष में अपनी राय दी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-साहित्य के व्यवस्थित इतिहास लेखन के शिखर पुरुष हैं, जिनकी तीक्ष्ण बुद्धि और निर्भ्रान्त विवेक से दिये गये दो-टूक निर्णयों का, सारे संशोधनों और संवर्द्धन के बावजूद, अब तक खण्डन नहीं किया जा सका है। 'रासो' की प्रामाणिकता के संदर्भ में आचार्य शुक्ल का विवेचन महत्त्वपूर्ण है।

पृथ्वीराज विजय नामक संस्कृत ग्रंथ की प्राप्ति और उसके आलोक में 'रासो' की प्रामाणिकता सन्दिग्ध हो जाने के फलस्वरूप डॉ. बूलर द्वारा इसका प्रकाशन रोक दिये जाने का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। आचार्य शुक्ल ने इस प्रसंग पर विस्तार से विचार किया है। *पृथ्वीराज विजय* पृथ्वीराज की राजसभा के कश्मीरी कवि जयानक द्वारा संस्कृत में लिखा काव्य है। उसमें दिये गये संवत् और ऐतिहासिक सूचनाएँ अन्य इतिहास स्रोतों से सत्य प्रमाणित होती हैं। जैसे पृथ्वीराज की माँ का कर्पूर देवी नाम हाँसी के शिलालेख से समर्थित होता है। पृथ्वीराज, जयचंद और परमर्दिदेव के नामोल्लेखवाले शिलालेखों के सन्दर्भ देते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं, "इन संवतों से पृथ्वीराज का जो समय निश्चित होता है, उसकी सम्यक् पुष्टि फ़ारसी तवारीख़ों से भी हो जाती है। फ़ारसी इतिहासों के अनुसार शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज का प्रथम युद्ध सं. 1248 में हुआ। अतः इन (शिलालेखों के) संवतों के ठीक होने में कोई सन्देह नहीं।"[10] इसकी तुलना में 'रासो' में पृथ्वीराज का जन्म काल, दिल्ली को जाना, कन्नौज को जाना आदि सारी घटनाओं की तिथियों की अप्रामाणिकता जो है, वह तो है ही, उसके अलावा तमाम अन्य बातें भी आपत्तिजनक हैं, "बात संवतों ही तक नहीं है। इतिहास-विरुद्ध कल्पित घटनाएँ जो भरी पड़ी हैं, उनके लिए क्या कहा जा सकता है?"[11] शुक्ल जी को आपत्ति यह है कि काव्यग्रन्थ होने से अनैतिहासिकता की छूट का अधिकार

नहीं मिल सकता, "काव्य ग्रंथों में सत्य घटनाओं में बिना किसी प्रयोजन के उलट-फेर नहीं किया जाता। जयानक का *पृथ्वीराज विजय* भी तो काव्यग्रंथ है। फिर उसमें क्यों घटनाएँ और नाम ठीक-ठीक हैं?"[12] इस सबके बावजूद शुक्लजी इस सम्भावना को स्वीकार करते हैं, "हो सकता है कि इसमें इधर-उधर कुछ पद्य चंद के भी बिखरे हों, पर उनका पता लगना असम्भव है।"[13]

फिर *पृथ्वीराज विजय* में पृथ्वीराज के प्रमुख भाट का नाम 'चंद' नहीं पृथ्वीभट्ट लिखा है। पाँचवें सर्ग में यह श्लोक आया है–

तन्यश्चन्द्रराजस्य चंद्रराज इमा भवत,
संग्रहं यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानामिवि व्यधाता।

इसमें आए चंद्र कवि को पं. गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा यमक के आधार पर कवि चंद का द्योतक न मानकर क्षेमेन्द्र द्वारा उल्लिखित चंद्रक कवि मानते हैं। परन्तु इस सारे विमर्श के बाद आचार्य शुक्ल इस सम्भावना को मान लेते हैं कि चंदबरदाई नाम का कोई कवि था तो वह या तो पृथ्वीराज की सभा में न रहा होगा या जयानक के कश्मीर लौट जाने पर आया होगा।"[14]

अतएव *पृथ्वीराज रासो* का उल्लेख आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट शब्दों में 'संदिग्ध सामग्री' के रूप में यह कहते हुए किया कि, "इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर जो थोड़ा बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमें सन्तोष करना पड़ता है।"[15]

उन्होंने यह भी माना है कि भट्ट चारणों की परम्परा के चलते रहने से उसमें फेर-फार अपरिहार्य था।[16] वे रासो की अनैतिहासिकता से कितने क्षुब्ध थे, यह इस वाक्य से स्पष्ट है, "इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि यह पूरा ग्रंथ वास्तव में जाली है।"[17] इससे भी ज़्यादा वे इसकी भाषा से खीझे हैं, "भाषा की कसौटी पर यदि इस ग्रंथ को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है, क्योंकि वह बिलकुल बेठिकाने है।"[18] पर इस सब के बावजूद शुक्लजी ने इसमें तद्‌युगीन परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व स्वीकार किया, "राजाश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ किया करते थे और अपनी वीरोल्लास भरी कविताओं से वीरों को उत्साहित किया करते थे।"[19]

तात्पर्य यह कि शुक्ल जी की निर्णायक कसौटी शिक्षित जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिफलन–की दृष्टि से 'रासो' की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आचार्य शुक्ल के अनुसार–"जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्य धारा की भिन्न-भिन्न

धाराएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए काल-विभाजन के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता है।"[20] इस कसौटी के निर्वाह क्रम में उन्होंने भारत के पश्चिमी भाग, जहाँ बड़े-बड़े हिन्दू राजाओं की राजधानियाँ प्रतिष्ठित थीं, उधर की भाषा शिष्ट भाषा मानी[21]। अतः उस काल के उपलब्ध साहित्य पर उसी भूभाग की जनता की चित्तवृत्ति की छाप होने के नाते उसे विचार योग्य मानने से इनकार नहीं किया।

इसके बाद इतिहास-लेखन का क्रम चल पड़ा। कहीं अनेक लेखकों द्वारा लिखित निबन्धों के सम्पादित रूप जैसे राजबली पाण्डेय के सम्पादन में 'नागरी प्रचारिणी सभा' का *हिन्दी साहित्य का इतिहास* या धीरेन्द्र वर्मा के सम्पादन में भारतीय हिन्दी परिषद् का *हिन्दी साहित्य* (तीन खण्ड) का प्रकाशन हुआ। इनके साथ व्यक्तिगत स्तर पर नई या मौलिक दृष्टि से भी इतिहास लेखन की चेष्टा हुई यथा रामकुमार वर्मा का *हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास* अथवा गणपति चंद गुप्त का *वैज्ञानिक इतिहास* आदि। इनमें ज़्यादातर आचार्य शुक्ल की स्थापनाओं को हलके हेर-फेर के साथ स्वीकार कर लिया गया या किसी पक्ष को अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से प्रस्तुत किये जाने के अलावा किसी नयी मान्यता का सूत्रपात नहीं हुआ। विशेषकर रासो के संदर्भ में आचार्य शुक्ल के भाषा, साहित्य और इतिहास सभी दृष्टियों से 'किसी काम का न होना' जैसे कठोर निर्णय के बाद 'रासो' के पक्ष में विचार के कुछ आधार ढूँढ़ने का साहस आसान था भी नहीं।

अब तक के 'रासो' सम्बन्धी विचार-विश्लेषण को नई दिशा और अर्थवत्ता प्रदान करने का कार्य किया आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने। 'बिहार राष्ट्रभाषा परिपद्' में दिये गये आदिकाल विषयक चार व्याख्यानों में द्विवेदी जी ने रासोपूर्व अर्थात् अपभ्रंश और देश्यमिश्रित रचनाओं तथा *पृथ्वीराज रासो* के अध्ययन की समस्याओं पर एक नई दृष्टि से सोचने की ज़रूरत पर बल दिया। उनका मानना था, "आदिकाल के इतिहास लेखकों ने इन ग्रंथों की ऐतिहासिकता के पक्ष-विपक्ष में बहुत-सी व्यर्थ की दलीलें पेश की हैं, जो निरर्थक ही नहीं हैं, साहित्य के विद्यार्थी के उपर बोझ के समान हैं और शुद्ध साहित्यिक आलोचना की गति को रुद्ध करने का कार्य करती है।"[22] आचार्य द्विवेदी का दृढ़ विश्वास था, "इस अंधकार युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी चिनगारी मिल जाए, उसे जिला रखना कर्तव्य है, क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की सम्भावना लेकर आई होती है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन का ही नहीं, केवल

सुशिक्षित चित्त के संयत और सुचिन्तित वाक् पाटव का ही नहीं, बल्कि, उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी होती है। इस काल की कोई रचना अवज्ञा और उपेक्षा का पात्र नहीं हो सकती। साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किसी न किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की सम्भावना होती है।"[23]

स्पष्ट है कि द्विवेदीजी ने अब तक के हुए विचार-विमर्श में विद्वानों के मतों का खण्डन-मण्डन करने की बजाय उनकी प्रासंगिकता औचित्य और उपयोगिता आदि को एक नई सहृदयता से देखा और परखा। वे 'रासो' में होनेवाले निरंतर प्रक्षेपों और मूल रूप के 'लगभग खो जाने' के कारणों का संधान करने से आरम्भ करते हैं। 'रासो' के संदर्भ में सबसे बड़ी समस्या थी—उसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता, जिसका अनिवार्य सम्बन्ध ग्रंथ को सुरक्षित रखने के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। उस युग या किसी युग की रचनाओं को सुरक्षित रखने के सम्भव उपाय हैं—1. राज्याश्रय अर्थात् राजकीय पुस्तकालयों में रचनाएँ सुरक्षित रहें, 2. धर्म के आश्रय अर्थात् मठों-विहारों के पुस्तकालयों में रखी जाएँ, 3. जहाँ ये दोनों अनुपलब्ध हों, वहाँ जनता द्वारा ही सुरक्षा सम्भव होती है। इनमें से राज्याश्रय या धर्माश्रय में सुरक्षित रहनेवाले ग्रंथों की 'शुद्धता' की तुलना में जनता द्वारा अपेक्षाकृत 'अशुद्ध' रचनाओं के प्रति द्विवेदी जी अधिक सहृदय हैं, क्योंकि ये जनता के दुःख-सुख के साथी थे।

इस पर विस्तृत विचार के बाद द्विवेदी जी का निष्कर्ष है, "जिन पुस्तकों के आधार पर इस काल की भाषा-प्रवृत्ति का कुछ आभास पाया जा सकता है, उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। कुछ पुस्तकों की भाषा इतनी परिवर्तित हुई है कि उनके विषय में कुछ भी विचार करना अनुचित जान पड़ता है। इन पुस्तकों से काव्य-रूपों का अध्ययन अधिक विश्वास के साथ किया जा सकता है।"[24]

'रासो' के मूल रूप का अनुमान

बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा *पृथ्वीराज रासो* के प्रकाशन का कार्य *पृथ्वीराज विजय* की प्रति की तुलना में 'रासो' की अप्रामाणिकता से खिन्न होकर, बूलर द्वारा बन्द करा दिया गया था, उनके प्रभाव से ग्रियर्सन आदि ने भी अपनी राय बदल दी और महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने प्रमाणों के आधार पर इसे सत्रहवीं शती की रचना सिद्ध कर दिया, यह सब पीछे विस्तार से विवेचित है। द्विवेदीजी ने बलपूर्वक प्रमाणित किया कि 'पुरातन प्रबंध संग्रह' में पाए जानेवाले चार छंदों को देखते हूए मूल 'रासो' के अस्तित्व का पक्ष पुष्ट हुआ है, क्योंकि ये *पृथ्वीराज विजय* में भी है और 'रासो' में भी, "ये छंद प्रायः अपभ्रंश में है।

वर्तमान 'रासो' में ये विकृत रूप में प्राप्त होते हैं... अब यह मान लेने में किसी को आपत्ति नहीं है कि 'रासो' एकदम जाली पुस्तक नहीं है। उसमें बहुत अधिक प्रक्षेप होने से उसका रूप विकृत ज़रूर हो गया है, पर इस विशाल ग्रन्थ में कुछ सार अवश्य है।"[25] किसी पुरानी हस्तलिखित प्रति के अभाव में निश्चित रूप से कुछ निर्दिष्ट न कर पाने की स्थिति में द्विवेदी जी का अनुमान है कि "उस युग की काव्य प्रवृत्तियों और काव्य-रूपों के अध्ययन से हम 'रासो' के मूल रूप का संधान पा सकते हैं।"[26]

सम्प्रति रासो के चार संस्करण उपलब्ध हैं : 1. संवत् 1767 की उदयपुर वाली प्रति के आधार पर 'नागरी प्रचारिणी सभा' से प्रकाशित बृहत् संस्करण। यह मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या द्वारा सम्पादित छः भागों में प्रकाशित हुआ, पर सम्पादकीय लिखने से पहले ही पंड्या जी का निधन हो जाने से इसके सम्पादकीय दृष्टिकोण का रूप स्पष्ट नहीं हुआ। इसमें 3088 पृष्ठों में 'रासो' के 67 समय और रासोसार छपे थे।

यह छः भागों में प्रकाशित हुआ, जिसकी सूची इस प्रकार है—

			पृष्ठ
पहला भाग आदिपर्व से 11वाँ समय			1-445
1.	आदिपर्व		1-180
2.	द्वितीय समय	: दसम लिख्यते दशमावतारकथा	181-254
3.	तृतीय प्रस्ताव	: दिल्ली किल्ली कथा लिख्यते	255-274
4.	चौथा समय	: अथ लोहाना आजानुबाहु समय लिख्यते	275-286
5.	पाँचवाँ समय	: कन्ह पट्टी समय लिख्यते	287-298
6.	छठा समय	: अथ आखेटक वीर वरदान समय लिख्यते	299-328
7.	सातवाँ समय	: अथ नाहर रामकथा वर्णन लिख्यते	329-367
8.	आठवाँ समय	: अथ मेवाती मुगल कथा लिख्यते	369-383
9.	नवाँ समय	: अथ हुसेन कथा लिख्यते	385-424
10.	दसवाँ समय	: अथ आखेटक चूक वर्णन लिख्यते	425-435
11.	ग्यारहवाँ समय	: अथ चित्ररेखा समयौ लिख्यते	435-445

1187 ई. से 1906 ई. तक इतने अंश का सम्पादन मोहनलाल विष्णु लाल पंड्या जी ने अकेले किया। 1906 ई. से 'नागरी प्रचारिणी सभा' का सहयोग मिला और राधाकृष्णदास तथा श्यामसुन्दरदास जी भी इस कार्य में शामिल हो

गये। दूसरे भाग का विवरण इस प्रकार है–

12.	बारहवाँ समय	: अथ भोलाराम समय लिख्यते	447-510
13.	तेरहवाँ समय	: अथ सलष जुद्ध समयौ लिख्यते	510-542
14.	चौदहवाँ समय	: अथ डंछिनी ब्याहकथा लिख्यते	543-566
15.	पन्द्रहवाँ समय	: अथ मुगल जुद्ध प्रस्ताव लिख्यते	567-572
16.	सोलहवाँ समय	: अथ पुंडीर दाहिमी विवाह नाम प्रस्ताव लिख्यते	573-576
17.	सत्रहवाँ समय	: अथ भूमि सुपन प्रस्ताव लिख्यते	577-588
18.	अठारहवाँ समय	: अथ दिल्ली दान प्रस्ताव लिख्यते	589-601
19.	उन्नीसवाँ समय	: अथ माधो भाट कथा लिख्यते	603-630
20.	बीसवाँ समय	: अथ पद्मावती समय लिख्यते	631-641
21.	इक्कीसवाँ समय	: अथ प्रिथा ब्याहं वर्णनं लिख्यते	643-670
22.	बाईसवाँ समय	: अथ होली कथा लिख्यते	671-673
23.	तेईसवाँ समय	: अथ दीपमालिका कथा लिख्यते	674-679
24.	चौबीसवाँ समय	: अथ धन कथा लिख्यते	680-758
25.	पच्चीसवाँ समय	: अथ शशिव्रता वर्णनं नाम प्रस्ताव	759-864
26.	छब्बीसवाँ समय	: अथ देवगिरि समयौ लिख्यते	865-881
27.	सत्ताईसवाँ समय	: अथ रेवातट समयौ लिख्यते	883-912
28.	अट्ठाईसवाँ समय	: अथ अनंगपाल समयौ लिख्यते	913-943

1907 में तीसरे भाग के प्रकाशन से राधाकृष्णदास की जगह कुँअर कन्हैयाजू संपादन कार्य में शामिल हुए। तीसरे भाग में 29 से 54 समय हैं–

29.	उनतीसवाँ समय	: अथ घघर की लड़ाई रो प्रस्ताव लिख्यते	945-958
30.	तीसवाँ समय	: अथ करवाटी पात्र समयौ लिख्यते	959-966
31.	इकतीसवाँ समय	: अथ पीपा युद्ध प्रस्ताव लिख्यते	967-993
32.	बत्तीसवाँ समय	: अथ करहे रो युद्ध प्रस्ताव लिख्यते	995-1013
33.	तैंतीसवाँ समय	: अथ इन्द्रावती व्याह	1015-1029
34.	चौंतीसवाँ समय	: अथ जैतरा जुध प्रस्ताव समयौ लिख्यते	1030-1043
35.	पैतीसवाँ समय	: अथ कांगुरा जुद्ध प्रस्ताव लिख्यते	1044-1054

36. छत्तीसवाँ समय	: अथ हंसावती विवाह नाम प्रस्ताव लिख्यते	1055-1097
37. सैंतीसवाँ समय	: अथ पहाड़राय समयौ लिख्यते	1098-1118
38. अड़तीसवाँ समय	: अथ वरुण कथा लिख्यते	1119-1128
39. उनतालीसवाँ समय	: अथ सोमवध समयौ लिख्यते	1129-1152
40. चालीसवाँ समय	: अथ पज्जून छोंगा नाम	
प्रस्ताव लिख्यते	1153-1156	
41. इकतालीसवाँ समय	: अथ पज्जून छोंगा नाम प्रस्ताव लिख्यते	1157-1163
42. वयालीसवाँ समय	: अथ चंद द्वारका समयौ लिख्यते	1167-1177
43. तैतालीसवाँ समय	: अथ कैमास जुद्ध लिख्यते	1178-1198
44. चौवालीसवाँ समय	: अथ भीमवध समयौ लिख्यते	1199-1227
45. पैंतालीसवाँ समय	: अथ विनयमंगल नाम प्रस्ताव लिख्यते	1229-1258
46. छयालीसवाँ समय	: अथ (संजोगिता) विनयमंगल नाम प्रस्ताव	1259-1274
47. सैंतालीसवाँ समय	: अथ सुक वर्णन लिख्यते	1275-1291
48. अड़तालीसवाँ समय	: अथ बालुकाराइ समयौ लिख्यते	1292-1329
49. उनचासवाँ समय	: अथ पंग जगृय विध्वंसनो नाम प्रस्ताव	1330-1336
50. पचासवाँ समय	: अथ संजोगिता नाम प्रस्ताव लिख्यते	1337-1346
51. इक्यावनवाँ समय	: अथ हांसीपुर प्रथम जुद्धनाम	1347-1360
52. बावनवाँ समय	: अथ द्धितीय हांसी जुद्ध वर्णन	1369-1400
53. तिरपनवाँ समय	: अथ पज्जून महुआ नाम प्रस्ताव	1401-1406
54. चौवनवाँ समय	: अथ पज्जून पातसाह जुद्ध प्रस्ताव लिख्यते	1407-1415

चौथे भाग का प्रकाशन 1910 ई. में हुआ। इस के प्रकाशन में वे ही सम्पादक थे, जिन्होंने तीसरे भाग का सम्पादन किया था। इस भाग में सात समय सम्मिलित हैं–

55. पचपनवाँ समय	: अथ सामन्त पंग जुद्ध नाम प्रस्ताव लिख्यते	1416-1447
56. छप्पनवाँ समय	: अथ समर पंग जुद्ध नाम प्रस्ताव लिख्यते	1448-1463
57. सत्तावनवाँ समय	: अथ कैमास वध नाम प्रस्ताव लिख्यते	1464-1509
58. अट्ठावनवाँ समय	: अथ दुर्गा केदार समयौ लिख्यते	1510-1551
59. उनसठवाँ समय	: अथ दिल्ली वर्णनं लिख्यते	1552-1564
60. साठवाँ समय	: अथ जंगम कथा लिख्यते	1565-1575
61. इकसठवाँ समय	: अथ कनवज्ज समयो लिख्यते	1577-1959

पाँचवें भाग का प्रकाशन 1912 ई. में हुआ—

62. बासठवाँ समय	: शुक चरित्र प्रस्ताव	1961-1985
63. तिरसठवाँ समय	: आखेट चप श्राप नाम प्रस्ताव	1987-2015
64. चौसठवाँ समय	: धीर पुण्डी नाम प्रस्ताव	2017-2102
65. पैंसठवाँ समय	: विवाह समयौ लिख्यते	2103-2104
66. छयासठवाँ समय	: बड़ी लड़ाइरो प्रस्ताव लिख्यते	2105-2385

छठें और अन्तिम भाग में तीन समय और रासो-सार प्रकाशित हुए—

67. सड़सठवाँ समय	: अथ बान वेध प्रस्ताव लिख्यते	2387-2468
68. अड़सठवाँ समय	: अथ राजा रयनसी नाम प्रस्ताव	2469-2506

इसके बाद रासो वस्तुतः समाप्त हो जाता है। इसके बाद वाला समय जिसे उनहत्तरवाँ समय कहा जाता है 'अथ महोबा समयौ लिख्यते' है, जो 2507 से 215 पृष्ठों में पूरा होता है। इसी छठें भाग में 1-473 पृष्ठों में रासो-सार अलग से प्रकाशित हुआ है।[27]

2. साहित्य संस्थान, राजस्थान और विद्यापीठ उदयपुर से कविराज मोहन सिंह के सम्पादन में, चार भागों में *पृथ्वीराज रासो* का प्रकाशन हुआ। इन्होंने कवि यदुनाथ कृत *वृत्तरत्नाकर* तथा देवलिया और अमरचन्द नाहटा से प्राप्त 'रासो' की प्रतियों के साक्ष्य पर *पृथ्वीराज रासो* के पद्यों की सँख्या पाँच सहस्र मानी। अपने सम्पादन कार्य और पाँच हज़ार की गिनती पूरी होने के आधार पर स्पष्टीकरण देते हुए मोहन सिंह ने कहा, "हमारे सम्पादन में छंदों की कुल संख्या भाग एक में 943, भाग 2 में 1086, भाग 3 में 1187, भाग 4 में 1223, इस प्रकार कुल 4439 हैं। शेप 561 छंद कम पड़ते हैं... रासो की प्रत्येक प्रति के साथ

महोबा समय लगा हुआ है, जिसे हम चंद पुत्र गुणचंद का लिखा हुआ मानते हैं। यह घटना मदनपुर के मन्दिर के स्तम्भ पर लगे हुए 1239 के लेखानुसार ऐतिहासिक सिद्ध होती है, जो 'रासो' के बाहर की घटना होते हुए भी अन्दर की घटना है। कवि चंद ने इस घटना पर संक्षेप में पद्मावती समय लिखकर प्रकाश डाला। विस्तार से उसने इस विषय को इसलिए नहीं लिखा कि उसी का समकालीन 'परमर्दी' (परिमाल चंदेले) का बन्दीजन (राव) जगनीक भी उसी विषय पर महोबा खण्ड (परिमाल रासो) अलग लिख रहा था। अतः एक ही विषय को उसने (कवि चंद ने) ग्रहण करना ठीक नहीं समझा। उसकी इस कमी को उसके पुत्र गुणचंद्र ने पूर्ण करने के लिए महोबा समय 828 छंदों में लिखा। इसके सहित 'रासो' की पृष्ठ संख्या 5267 होती है। मंगलाचरण, भूमिकादि विषय के पद्य मूल संख्या में नहीं गिने जा सकते। अतः उन्हें नहीं जोड़ने से क़रीब-क़रीब मूल छंद 5000 ही रह जाते हैं।"[28]

कवि मोहनसिंह द्वारा सम्पादित उदयपुर वाले संस्करण में कुल 4439 छंद हैं। उसका विवरण इस प्रकार है—

भाग-1 (प्रथम संस्करण सं. 2011)

	छंद संख्या	पृ. सं.
1. आदि कथा	78	1-34
2. दशावतार कथा, द्वितीय समय	102	35-80
3. दिल्ली किल्ली कथा, तृतीय समय	30	81-95
4. लोहाना आजानबाहु, समय 4	10	96-100
5. आखेट और वरदान वर्णन, समय 5	96	101-138
6. नाहर राय कथा, समय 6	74	139-173
7. मेवाती मुग़ल कथा, मुग़ल युद्ध प्रथम, समय 7	39	174-191
8. भूमि स्वप्न, समय 8	39	192-209
9. दिल्ली दान कथा, समय 9	22	210-218
10. माधौ भट्ट कथा, समय 10	58	219-241
11. हुस्सन कथा, समय 11	73	242-270
12. आखेट चूक, समय 12	27	271-285
13. चित्ररेखा, समय 13	14	286-292
14. इंच्छिनी विवाह, समय 14	84	293-328
15. मुगल युद्ध द्वितीय, समय 15	33	329-346

	छं सं.	पृ. सं.
44. संयोगिता नेमाचरण, समय 44	22	235-243
45. शुक वर्णन, समय 45	20	244-251
46. बालुका राय, समय 46	26	252-261
47. पंगु जग्य विध्वंस, समय 47	15	262-269
48. संयोगिता पूर्वजन्म, समय 48	77	270-298
49. हांसी प्रथम युद्ध, समय 49	49	299-322
50. हांसी द्वितीय युद्ध, समय 50	93	323-378
51. पज्जून महोबा, समय 51	24	379-390
52. पज्जून पातशाह युद्ध, समय 52	30	391-405
53. सामंत पंग युद्ध, समय 53	59	406-440
54. समर पंग युद्ध, समय 54	40	441-459
55. कैमास वध, समय 55	69	460-492
56. दुर्गा केदार, समय 56	107	493-545
57. जंगम कथा, समय 57	43	546-564
भाग 4 (प्रथम संस्करण संवत 2012)		
58. कनवज्ज, समय 58	68.	565-861
59. सुखविलास, समय 59	16	862-867
60. धीर पुंण्डीर, समय 60	121	868-943
61. अन्तिम युद्ध, समय 61	402	944-1160

3. सन् 1963 में बेनीप्रसाद शर्मा ने 'रासो' का लघु रूपान्तर प्रकाशित किया जो 19 खण्डों में है। अनूप संस्कृत राजकीय पुस्तकालय, बीकानेर में प्राप्त तीन प्रतियों के आधार पर सम्पादक ने इस संस्करण का सम्पादन किया है। इसकी छन्द सं. 1800 और पृष्ठ सं. 295 है। बेनीप्रसाद शर्मा द्वारा प्रस्तुत इस संस्करण के खण्डों की छन्द सं. का विवरण इस प्रकार है–

	छन्द सं.		छन्द सं.
1. प्रथम खण्ड	200	7. सप्तम खण्ड	77
2. द्वितीय खण्ड	70	8. अष्टम खण्ड	102
3. तृतीय खण्ड	46	9. नवम खण्ड	183
4. चतुर्थ खण्ड	30	10. दशम खण्ड	74
5. पंचम खण्ड	92	11. एकादश खण्ड	125
6. षष्ठ खण्ड	74	12. द्वादश खण्ड	85

13. त्रयोदश खण्ड	115		17. सप्तदश खण्ड	57
14. चतुर्दश खण्ड	131		18. अष्टादश खण्ड	79
15. पंचादश खण्ड	78		19. उन्नीसवाँ खण्ड	117
16. षोडश खण्ड	65			

4. लघुतम संस्करण का प्रकाशन सन् 1963 ई. में माता प्रसाद गुप्त द्वारा हुआ। मंगलाचरण और भूमिका से शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज की मृत्यु तक 12 अध्याय हैं, जिसे सम्पादक ने प्रस्तावना में सर्ग कहा है। रचना के क्रम-निर्धारण के सम्बन्ध में सम्पादक का निर्देश है, "रचना का नाम कृति के केवल अन्तिम छन्द में आया है और वहाँ पर लघुतम वाचना की दो प्रतियों में पाठ क्रमशः 'रास' और 'रासउ' है तथा शेष दो प्रतियों में 'रासो' है।"[29] सर्गों के विभाजन इस 'वाचना' में न होने से इन्होंने अपनी कल्पना से किया। डॉ. गुप्त ने 10 हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर इस संस्करण का पाठ निर्धारण किया है, उसमें से उन्हें धारणोज वाली प्रति अधिक प्रामाणिक लगी, "धारणोज का पाठ सर्वथा मूल नहीं हो सकता। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि आकार-प्रकार में वह मूल के सबसे निकट है और उससे बड़े पाठ मूल से उत्तरोत्तर दूर और दूरतर होते गये हैं।"[30] पाठ वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पादन का यह पहला प्रयास था।

सम्पादक ने 'रासो' की विश्वसनीय प्रतियों का पाठ वैज्ञानिक दृष्टि से जाँच-परखकर इस संस्करण का पाठ निर्धारण किया है। इसके प्रकाशित रूप का विवरण इस प्रकार है—

	छन्द सं.	पृ. सं.
1. मंगलाचरण और भूमिका	6	1-9
2. जयचंद राजसूययज्ञ और संयोगिता प्रेमानुष्ठान	28	10-42
3. कयमास वध	43	43-73
4. पृथ्वीराज का कन्नौज-गमन	25	74-105
5. पृथ्वीराज का कन्नौज में प्राकट्य	48	106-141
6. संयोगिता परिणय	34	142-168
7. पृथ्वीराज-जयचंद युद्ध (पूर्वार्द्ध)	31	169-207
8. पृथ्वीराज-जयचन्द युद्ध (उत्तरार्ध)	36	208-290
9. पृथ्वीराज-संयोगिता का केलिविलास और षड्ऋतु	14	241-250
10. पृथ्वीराज का उद्बोधन	29	251-272

5. *संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो* का सम्पादन आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नागरी प्रचारिणी सभा' वाली मुद्रित प्रति के आधार पर 1952 ई. में किया। इस सम्पादन के मूल में उनकी मान्यता है, "यह निर्णय करना अब बड़ा कठिन है कि चन्द की वास्तविक रचनाएँ कौन-सी हैं।"[31] राजमल बोरा ने इस संस्करण और द्विवेदीजी के निर्णय की प्रक्रिया का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा, "आचार्य द्विवेदी ने सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि 'नागरी प्रचारिणी सभा' वाले संस्करण का अध्ययन किया। 'रासो' के कथानक को पहचानने के लिए उन्होंने संस्कृत, प्राकृत तथ अपभ्रंश काव्यों की कथा-परम्परा में 'रासो' के कथानक को परखा और इस आधार पर इतिहास और कल्पना को अलग करने की कोशिश की।"[32]

रासो की प्रामाणिकता सम्बन्धी विवेचन के क्रम में आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने रासो के प्रक्षेपों को पहचानने के लिए कविराज मोहन सिंह द्वारा निर्दिष्ट कसौटी को अपर्याप्त माना। मोहन सिंह ने कवि के द्वारा प्रयुक्त छन्दों के बारे में इस उक्ति को आधार बनाया था—

'छंद प्रवंध कवित्त यति साटक गाह दुहत्थ।
लघु गुरु मंडित खडि यह पिंगल अयर भरत्थ ॥'

अर्थात् (मेरे प्रबंध काव्य रासो में), कवित्त (षट्पदी), साटक (शार्दूल विक्रीड़ित), गाहा (गाथा) और दोहा नामक वृत्त प्रयुक्त हैं, जिनमें मात्रादि-नियम पिंगलाचार्य के अनुसार हैं और संस्कृत (अमर वाणी) के छंद भरत के मतानुकूल हैं।"[33] इस पद के आधार पर कविराज मोहन सिंह के मतानुसार इन्हीं चार प्रकार के छंदों का प्रयोग जहाँ-जहाँ हुआ, वे ही रासो के मूल अंश हैं, शेष सारे प्रक्षिप्त हैं। ऐसा मानने से भी मूल और प्रक्षिप्त का निर्णायक भेद किया जा सकेगा—ऐसा प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यह जानने का क्या उपाय होगा कि प्रक्षेप करनेवालों ने 'चंद जैसी' लगने वाली रचना इन छंदों में नहीं की होगी? इसलिए द्विवेदीजी ने इसे अस्वीकार कर दिया है, "ये छन्द अपभ्रंश के बहुत पुराने और परिचित छंद हैं, प्रक्षेप करनेवालों ने इन छंदों का उपयोग भी किया ही होगा और बाक़ी छंदों को रासो से निकाल भी दें तो प्रक्षेप की समस्या हल नहीं हो जाएगी। 'रासो' के अशुद्ध बताए जाने वाले संवत् दोहा और छप्पय छंदों में ही है।"[34]

इसका निर्णय करने के लिए द्विवेदी जी एक अन्य आधार का सहारा लेते हैं। अलंकृत काव्यरूप के लिए 'कथा' शब्द के प्रयोग की व्यापक स्तर पर परीक्षा

और उदाहरणों की व्याख्या कर इसमें भी आख्यायिका से उसका भेद निर्दिष्ट करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि आख्यायिका की अपेक्षा कथा अधिक सम्भावनाश्रित और काल्पनिक होती है। जैसे *कादम्बरी* को कथा कहा गया और *हर्षचरित* को आख्यायिका।[35] इन काल्पनिक कथाओं को दो व्यक्तियों की बातचीत के रूप में कहने की पद्धति काफ़ी पहले से प्रचलित चली आ रही है, *कीर्तिलता* में भृंग-भृंगी संवाद, *पद्मावत* में शुक द्वारा घटनाक्रम को महत्त्वपूर्ण मोड़ दिया जाना आदि हिन्दी साहित्य में सर्वज्ञात है। जैन और सूफ़ी कवियों ने इसके निर्वाह में उतनी तत्परता से काम नहीं किया, लेकिन प्राकृत और संस्कृत कथाओं में यह प्रथा बहुत पहले से प्रचलित है। वक्ता और श्रोता के रूप में कथा की यह योजना 'रासो' में भी मिलती है।

इसके नाम में लगा 'रासो' या 'रासक' भी अपना वैशिष्ट्य व्यंजित करता है। हेमचंद्र के निर्दिष्ट लक्षणों में रासक को मिश्र गेय रूपक कहा गया—"रासक आरम्भ में एक प्रकार के उद्धत-प्रयोग-प्रधान गेय रूपक को कहते थे, जिसमें थोड़ा बहुत 'मसृण' के कोमल प्रयोग भी होते थे... यह मसृणोद्धत ढंग का गेय रूपक था जैसे *संदेशरासक*। *पृथ्वीराज रासो* यदि सचमुच ही पृथ्वीराज के काल में लिखा गया था तो उसमें रासक काव्य के कुछ-कुछ लक्षण अवश्य रहे होंगे।"[36] इसके बाद द्विवेदीजी ने *संदेशरासक* और 'रासो' के आरंभिक छंदों की आश्चर्यजनक समानता दिखायी है। द्विवेदीजी अनुमान करते हैं कि "इससे लगता है कि पृथ्वीराज रासो आरम्भ में ऐसा कथाकाव्य था जो प्रधानरूप से उद्धत-प्रयोग-प्रधान-मसृण प्रयोगयुक्त गेय रूपक था। उसमें कथाओं के भी लक्षण थे और रासकों के भी।"[37] फिर कीर्तिलता में हर पल्लव में भृंगी द्वारा प्रश्न के उत्तर में भृंग द्वारा कहानी शुरू करने की पद्धति की तरह ही, "रासो के वर्तमान रूप को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मूल रासो में भी शुक-शुकी के संवाद की ऐसी ही योजना रही होगी।"[38] रासो में पृथ्वीराज के नौ विवाहों में इंछिनी, शशिव्रता और संयोगिता के विवाहों का वर्णन शुक-शुकी संवादों के रूप में विशेष तन्मयता से किया गया है। इसे द्विवेदीजी काफ़ी संकेतपूर्ण मानते हुए कहते हैं—"सच पूछिए तो यह बात आपसे छिपाना नहीं चाहता कि यह बात मेरे मन में समायी हुई है कि चंद का मूल ग्रंथ शुक-शुकी संवाद के रूप में ही लिखा गया था। और जितना अंश इस संवाद के रूप में है, उतना ही वास्तविक है।"[39] अतः द्विवेदीजी का अनुमान है, "*पृथ्वीराज रासो* ऐसी ही सालंकार युद्धवद्ध कथा था, जिसका मुख्य विषय नायक की प्रेमलीला, कन्याहरण और शत्रुपराजय था। ऊपर जिन अंशों को 'रासो' का पुराना रूप कहा गया है, उनमें इन्हीं बातों का विस्तार है।"[40]

संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो के प्रकाशित रूप का विवरण इस प्रकार है—

	छन्द सं.	पृ. सं.
1. आदिपर्व	205	17-38
2. इंच्छिनीविवाहप्रसंग	88	39-50
3. इंच्छिनी ब्याह कथा	164	51-71
4. शशिव्रता विवाह प्रस्ताव	199	72-94
5. कैमास-करनाटी प्रसंग	38	95-99
6. कनवज्ज समय	325	100-140
7. बड़ी लड़ाई समय	164	141-160
8. बानवेध समय	56	161-166

इस सारे परिश्रम के बाद भी द्विवेदीजी का दावा इतना ही है, "मेरा विश्वास अवश्य है कि चंद की मूल रचना कुछ इसी के आस-पास होगी।'"[41]

इस स्थापना को आधार बनाकर द्विवेदीजी तथा नामवर सिंह ने *संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो* नाम से रासो का संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत करने का कठिन कार्य किया। इसकी विधिवत् समीक्षा और विवेचना करते हुए पाठ विज्ञान के विशेषज्ञ डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने सम्पादकों की कई-कई मान्यताओं को समीचीन नहीं माना और अपनी असहमति के तार्किक आधार दिये। फिर भी, इस सारे प्रयास की दुरूहता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इस *संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो* का स्वागत किया।[42] 'रासो' के उपलब्ध स्वरूप और आधार में से प्रक्षेपों को हटाकर उसके मूल का संधान वस्तुतः कल्पना और अनुमान के सहारे ही सम्भव है। इसके लिए निर्दिष्ट आधार जैसे भी हों, वे निर्भ्रान्त रूप से मूल तक पहुँचा ही देंगे, यह सुनिश्चित कर पाना असम्भव-सा है। *संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो* का सम्पादन सम्भावनाओं के सहारे ही किया गया है और इसे अब तक के प्रयासों की तुलना में मूल के निकटतर माना जा सकता है। इसी दृष्टि से डॉ. राजमल बोरा ने भी *संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो* को एक महत्त्वपूर्ण संस्करण माना।

रचना-काल

रासो के मूल रूप के संधान की योजना का ही अगला चरण है इसके रचना-काल का निर्धारण। मौखिक परम्परा से रक्षित होनेवाले जिस काव्य के हर पक्ष पर विवाद है, उसके रचना-काल के तय हो पाने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कुछ निर्दिष्ट किया जा सकता है तो इसका संग्रह-काल या लिपि-काल। नामवर सिंह ने सं. 1707 में दलपति मिश्र कृत *जसवंत उद्योत* में *पृथ्वीराज रासो*

के उल्लेख का जिक्र किया है और यह भी कि *सुरजन चरित* नामक संस्कृत काव्य में पृथ्वीराज पर पूरा सर्ग दिया गया है। पृथ्वीराज के साथ चंद का भी उल्लेख किया गया है, पर उन्हें रासोकार नहीं कहा गया है।[43] इस प्रकार अकबर के शासन-काल से पहले 'रासो' के लिखित रूप के अस्तित्व का प्रमाण नहीं मिलता। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने अपने संस्करण के लिए धारणोजवाली प्रति का उपयोग किया, जो सन 1610 के आसपास की है।[44] चूँकि रासो की जितनी प्रतियाँ प्राप्त होती हैं, उनका लेखन विभिन्न समयों पर हुआ है, और किसी प्रामाणिक प्रति को सामने रखकर नहीं हुआ, अतएव प्रक्षेपों के अलावा छंदों के क्रम, भाषा आदि सभी स्तरों पर अन्तर मिलता है।[45] धारणोजवाली प्रति में 'यादृशं मया दृष्टा तादृशं लिखितं मया' से इस अनुमान को आधार मिलता है कि यह किसी प्रति की प्रतिलिपि है। परन्तु उस मूल प्रति की प्राप्ति का अभी तक कोई उपाय नहीं हो पाया है।

निष्कर्ष

मौखिक परम्परा से रक्षित 'रासो' को सुनकर अकबर बहुत प्रभावित हुआ था और अबुल फ़ज़ल जैसे विद्वान् इतिहासवेत्ता ने इसे 'हिन्दू इतिहास' का गौरव प्रदान किया था। राजस्थान का इतिहास लिखने के संदर्भ में वहाँ के राजपूत घरानों में अत्यन्त समादृत ग्रंथ के रूप में 'रासो' की प्रतिष्ठा देखकर कर्नल टॉड ने अंग्रेज़ी में 'रासो' का काव्यानुवाद करना आरम्भ किया। साथ ही, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी को इसके प्रकाशन के लिए सहमत कर लिया। असमय मृत्यु के कारण टॉड के द्वारा शुरू किया गया अनुवाद बीच में ही रुक गया। उधर डॉ. बूलर को *पृथ्वीराज विजय* नामक ग्रंथ की तुलना में 'रासो' में अनेक ऐतिहासिक असंगतियाँ दिखाई दीं, जिसके कारण उन्होंने सोसाइटी को कहकर इसका प्रकाशन बन्द करवा दिया। अब 'रासो' की प्रामाणिकता का विवाद आरम्भ हो गया। इसमें एक ओर डॉ. बूलर, ग्रियर्सन, कविराज श्यामलदास, महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा जैसे विद्वान् थे, जो 'रासो' को नितान्त अप्रामाणिक और 'जाली' सिद्ध कर रहे थे। दूसरी ओर, व्यक्तिगत स्तर पर इस बृहत् ग्रंथ के सम्पादन का साहस करनेवाले मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, श्यामसुन्दर दास और मिश्रबन्धु जैसे विद्वान् इसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना मानकर प्रामाणिक सिद्ध करने में लगे हुए थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भाषा और साहित्य सभी स्तरों पर इसे अनुपयोगी करार देने और स्पष्टतः संदिग्ध रचना कहने के बावजूद उस युग की चित्तवृत्ति का प्रतिनिधित्व करनेवाले ग्रंथ के रूप में इस ग्रंथ को लक्ष्य में रख कर उस काल का नाम वीरगाथा-काल रखा।

इन परस्पर दो विरोधी पक्षधरों के बीच आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने ऐतिहासिक प्रामाणिकता के आग्रह को निरर्थक कहा और उसका निषेध करते हुए 'रासो' का महत्त्व उस युग की भाषा, साहित्य और मानव-मन के स्पंदन को समझने के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया। 'नागरी प्रचारिणी सभा' के 'रासो' के बृहद्, मध्यम, लघु और लघुतर चार संस्करणों में भी यह निर्धारित करना एक समस्या बनी रही कि इसमें से किसे चंद की सम्भावित रचना या उसके निकटतम माना जाए। द्विवेदीजी ने इसको निर्धारित करने के लिए संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के प्रचलित काव्य रूपों की सुदीर्घ परम्पराओं पर व्यापक विचार कर उन मूल स्थापनाओं का संधान किया, जिनको आधार बनाकर चंद की मूल रचनाओं को पहचाना जा सकता था और इस तरह उन्होंने *संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो* का सम्पादन किया। इसे 'रासो' के अब तक के प्राप्त संस्करणों में मूल के सबसे निकट माना गया। मौखिक परम्परा से रक्षित होने के कारण इसको लिपिबद्ध करने का काम काफ़ी बाद में शुरू हुआ। इस समय जो सबसे प्राचीन प्रतिलिपि प्राप्त होती है, वह धारणोजवाली प्रति है, जिसका प्रतिलिपि-काल सन् 1610 ई. के आसपास है और यह सम्भवतः किसी अन्य प्रति से प्रतिलिपि की गयी है, जिसका संधान अभी नहीं हो पाया है। राजसमुद्र नामक तालाब पर खुदाए गये *राज प्रशस्ति* नामक संस्कृत काव्य में उल्लेख हुआ है कि चंद के इधर-उधर बिखरे छंदों को राजा अमर सिंह ने एकत्र करवाकर वर्तमान रूप दिया। इस आधार पर द्विवेदीजी का अनुमान है, "रासो का वर्तमान रूप अधिक-से-अधिक सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में प्राप्त हुआ होगा।"[46]

संदर्भ :

1. *अकबरनामा,* खण्ड-3, पृ. 167
2. *एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज़ ऑफ़ राजस्थान,* टॉड, खण्ड 1, पृ. 297-98
3. टॉडकृत *राजस्थान का इतिहास,* अनु. केशव ठाकुर, प्रस्तावना, पृ. 4
4. *महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण स्मृतिग्रंथ* में रघुवीरसिंह का निबन्ध, पृ. 48-56
5. एशियाटिक सोसाइटी जर्नल, 1868, भाग 37
6. (उक्त) जर्नल 1869, खण्ड 8, पृ. 133-160
7. *पृथ्वीराजरासो की विवेचना,* सं. मोहनलाल व्यास शास्त्री तथा नाथूलाल व्यास, पृ. 289
8. *पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य,* राजमल बोरा, पृ. 18
9. *हिन्दी नवरत्न,* मिश्रबन्धु, पृ. 556-557
10. *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 44
11. वही, पृ. 46

12. वही, पृ. 46
13. वही, पृ. 46
14. वही, पृ. 46
15. वही, पृ. 33
16. *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 33
17. वही, पृ. 46
18. वही, पृ. 47
19. वही, पृ. 33
20. वही, 'वक्तव्य' पृ. 1
21. वही, पृ. 34
22. *हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास,* ह. प्र. द्विवेदी, पृ. 56
23. वही, पृ. 27
24. *हिन्दी साहित्य का आदिकाल,* ह. प्र. द्विवेदी, पृ. 55
25. वही, पृ. 55
26. वही, पृ. 55
27. यह सारा विवरण *पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य* नामक राजमल बोरा की पुस्तक से लिया गया है, पृ. 43-46
28. *पृथ्वीराज रासो,* चतुर्थ भाग, सं. कविराज मोहनसिंह, सम्पादकीय पृ. 35-36
29. *पृथ्वीराज रासो,* माताप्रसाद गुप्त, प्रस्तावना, पृ. 8
30. वही, भूमिका पृ. 41
31. *संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो,* सं. ह. प्र. द्विवेदी एवं नामवर सिंह, भूमिका, पृ. 15
32. *पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य,* राजमल बोरा, पृ. 56
33. *हिन्दी साहित्य का आदिकाल,* ह. प्र. द्विवेदी, पृ. 56 पर उद्धृत
34. वही, पृ. 57
35. विस्तार के लिए देखें, *हिन्दी साहित्य का आदिकाल,* पृ. 57-66
36. वही, पृ. 64
37. वही, पृ. 66
38. वही, पृ. 66
39. वही, पृ. 68
40. वही, पृ. 72
41. *संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो* की भूमिका, ह. प्र. द्विवेदी तथा नामवर सिंह, पृ. 15
42. *रासो साहित्य विमर्श,* माताप्रसाद गुप्त, पृ. 76
43. *पृथ्वीराज रासो भाषा और साहित्य,* नामवर सिंह, पृ. 246
44. *पृथ्वीराज रासो,* सं. माताप्रसाद गुप्त, पृ. 142-149
45. *पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य,* राजमल बोरा, पृ. 124
46. *हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास,* हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 60

4

काव्य-सौष्ठव

पृथ्वीराज रासो के ऐतिहासिक पक्ष को लेकर प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता सम्बन्धी विवाद इतना लम्बा खिंचा कि उसके अलावा उसकी साहित्यिक महत्ता की ओर लोगों का ध्यान ही नहीं गया। इसमें एक बहुत बड़ी बाधा इसकी भाषा भी थी, जो 'दुर्भेद्य दीवाल' की तरह रचयिता और पाठक के बीच रुकावट बनी खड़ी थी। भाषा की इस कठिनाई के बावजूद 'रासो' की साहित्यिक विशिष्टता के उद्घाटन के सबसे पहले प्रयास का साहस विपिनबिहारी त्रिवेदी ने किया।

'रासो' का कथानक

नामकरण से ही स्पष्ट है कि यह एक चरितकाव्य है, जो रासक शैली में लिखित है। पृथ्वीराज इसके नायक हैं। उनसे जुड़ी हुई मुख्य कथा के साथ अनेक आनुषंगिक कथाओं से 'रासो' भरा पड़ा है। आरम्भ में परम्परा निर्वाह के लिए मंगलाचरण, पहले के कवियों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन, आत्म-विनय, खलनिन्दा और सज्जन प्रशंसा के बाद ग्रंथ-रचना-प्रयोजन का उल्लेख करने के उपरान्त कथा आरम्भ होती है। पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के पुत्र थे। इनकी माँ दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की कन्या थी। अनंगपाल की दूसरी बेटी कन्नौज के राजा विजयपाल को ब्याही थी, जिससे जयचंद का जन्म हुआ। पृथ्वीराज के विद्याभ्यास के उपरान्त राजकीय कार्य-निर्वाह के दौरान आनेवाले तरह-तरह के प्रसंगों का वर्णन किया गया है जैसे पृथ्वीराज के आश्रय में रहनेवाले भीमदेव चालुक्य के भाई का वध पृथ्वीराज का एक सामन्त कन्ह महज़ इतनी-सी बात पर कर देता है कि उसने कन्ह के सामने अपनी मूँछों पर हाथ रख दिया था। दण्डस्वरूप कन्ह की आँखों पर पट्टी बँधवा दी गयी। तो भी भाई के वध से कुपित भीमदेव ने शत्रुता मान ली। उसने इसके अलावा बड़ी बहिन मंदोदरी से

विवाह के बावजूद इंच्छिनी के विवाह की माँग की, जिसके अनौचित्य से नाराज़ हो इंच्छिनी के पिता और भाई ने पृथ्वीराज के पास इंच्छिनी के विवाह का प्रस्ताव भेजा। फलस्वरूप भीमदेव और पृथ्वीराज में विधिवत् लड़ाई हुई, जिसमें विजयी होकर पृथ्वीराज ने इंच्छिनी से विवाह किया। हंस से पृथ्वीराज के गुणों का वर्णन सुनकर शशिव्रता, पृथ्वीराज के प्रतिद्वन्द्वी कन्नौज के राजा जयचंद के भतीजे की बजाय पृथ्वीराज पर अनुरक्त हो गयी। इसी बीच दासी के प्रति मंत्री कैमास की अनुरक्ति की बात जानकर पृथ्वीराज को इतना क्षोभ हुआ कि उसने रात में छिपकर कैमास को मार डाला। चंद ने इस ज़्यादती (छोटी भूल के लिए इतना बड़ा दण्ड देने की) और इतने योग्य मंत्री को खो देने की नासमझी के लिए पृथ्वीराज को बहुत फटकारा। युद्धों के फलस्वरूप विवाह और विवाह के निमित्त युद्ध के क्रम में कुछ दिनों बाद संयोगिता का अपने प्रति प्रेम जानकर ज्योतिषियों और हितैषियों के मना करने पर भी पृथ्वीराज कन्नौज जाता है। यात्रारम्भ के पहले रनिवास से अनुमति लेने के लिए जाने पर, छः रानियों द्वारा एक-एक ऋतु में रुकने का आग्रह किये जाने के फलस्वरूप, साल भर रुका रह जाता है। इस बहाने षड्ऋतु वर्णन का अवसर निकालना कवि का प्रयोजन है। अन्त में किसी तरह ससैन्य कन्नौज के लिए प्रयास करता है। संयोगिता के प्रेमवश गंगा किनारे उससे भेंट होने पर उसे घोड़े पर बिठाकर चल देता है। पृथ्वीराज तो शत्रुसेना को काटता निकल गया, पर उसके अनेक वीर योद्धा इस युद्ध में मारे गए। अंत में जयचंद ने पृथ्वीराज और संयोगिता के विवाह में दहेज भेजकर अपनी स्वीकृति दे दी। संयोगिता के आ जाने पर पट्टरानी के रूप में इंच्छिनी का सपत्नी-भावजन्य द्वेष स्वाभाविक था। शुक से इंच्छिनी का संदेश पाकर पृथ्वीराज को अपनी भूल का बोध हुआ, दोनों रानियों में समझौता हुआ और नायक के लिए परिस्थितियाँ अत्यन्त सुखद हो गयीं।

इसके साथ ही भोग-विलास में डूबे और राजकीय दायित्व निर्वाह से बेख़बर राजा पर शहाबुद्दीन का हमला हुआ। युद्ध में राजा बन्दी बनाए गये, अन्य रानियों के साथ संयोगिता सती हो गयी। पृथ्वीराज गज़नी ले जाए गये, उनकी आँखें निकाल ली गयीं और उन्हें क़ैदख़ाने में डाल दिया गया। यह सारा समाचार पाकर चंद ग़ज़नी पहुँचा और उसने गोरी को पृथ्वीराज का शब्दवेधी वाण कौशल देखने के लिए राज़ी कर लिया। भरे दरबार में गोरी के द्वारा आज्ञा दिलाकर उसी स्वर की दिशा में पृथ्वीराज के लक्ष्य कर बाण छोड़ने के फलस्वरूप शहाबुद्दीन गोरी मारा जाता है, चंद और पृथ्वीराज भी एक-दूसरे को मारकर अपना प्राणान्त कर लेते हैं।

कथानक रूढ़ियाँ :

इस कथानक के घटनाक्रम के विन्यास के लिए किसी कार्य कारण-शृंखला की बजाय कथानक रूढ़ियों का सहारा लिया गया है। ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर लिखे गये *पृथ्वीराज रासो* और *पद्मावत* जैसे काव्यों में भी सम्भावना पर बल दिये जाने के नाते आचार्य द्विवेदी ने इन्हें 'निजंधरी कथा' नाम दिया है। "सम्भावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देश में साहित्य के कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे 'अभिप्राय' बहुत दीर्घ काल से व्यवहृत होते आए हैं, जो थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और आगे चलकर कथानक-रूढ़ि में बदल गए हैं।"[1] जैसे शुक मनुष्य की बोली की नक़ल कर लेता है यह वास्तविकता है, ऋषि के वरदान से यह शक्ति बढ़ सकती है और यदि शापग्रस्त गंधर्व बनकर पैदा हुआ हो तो पिछले जन्म के संस्कारों से वह कलामर्मज्ञ हो सकता है। सम्भावना पक्ष पर आग्रह होने के कारण किस-किस तरह की रूढ़ियाँ प्रचलित हो गयी हैं, इसके कुछ नमूने यों हैं—

1. कहानी कहनेवाला सुआ,
2. स्वप्न में देखकर, चित्र देखकर या भिक्षुओं आदि से रूप-गुण वर्णन सुनकर प्रेमासक्ति होना,
3. मुनि का शाप,
4. आकाशवाणी,
5. षड्ऋतु और बारहमासे के बहाने विरह-वेदना का वर्णन आदि।[2]

'रासो' में प्रेम सम्बन्धी, लगभग सभी रूढ़ियों का समावेश हुआ है। इंच्छिनी, शशिव्रता और संयोगिता के विवाहों में शुक-शुकी के वार्तालाप का प्रयोग किया गया है। इंच्छिनी के विवाह में शुक-शुकी के वार्तालाप से ही भीम मोरंग और पृथ्वीराज के प्रसंग में उनकी शत्रुता के कारण का पता चलता है। भीम के प्रताप से उसके भाइयों का भयभीत होकर पृथ्वीराज की शरण में आना, पृथ्वीराज के प्रिय सामन्त कन्ह द्वारा एक का मारा जाना और भीमराव का नाराज़ होना यह शुक-शुकी की बातचीत से ही ज्ञात होता है। दूसरा प्रसंग है—भीमराव की इंच्छिनी से विवाह की इच्छा। इंच्छिनी की बड़ी बहन मंदोदरी भीम की विवाहिता थी, उसके बाद छोटी बहन को उसकी सपत्नी के रूप में ले आने की आकांक्षा अनुचित थी, इसलिए इंच्छिनी के पिता सलष और भाई जैन दोनों इस विवाह के विरुद्ध थे। अतः इस समस्या से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने पृथ्वीराज की शरण ली। लड़ाई हुई, भीम के कहने से शहाबुद्दीन भी चढ़ आया, पर पृथ्वीराज ने सबको परास्त कर इंच्छिनी से विवाह किया। इंच्छिनी विवाह के बाद शशिव्रता के विवाह

में भी कथानक-रूढ़ियों का भरपूर प्रयोग किया गया है। नट के मुँह से यादव कन्या शशिव्रता के रूप की प्रशंसा सुनकर पृथ्वीराज का उस पर आसक्त हो जाना, यह ज्ञात होना कि कामध्वज राजा को शशिव्रता नहीं चाहती, इसलिए उससे विवाह के लिए वह तैयार नहीं है; कन्या-प्राप्ति के लिए शिव-पूजन और शिव-मन्दिर में मनोरथ सिद्धि का वरदान, ये सब पुरुष-प्रेम की पुरानी भारतीय कथा-रूढ़ियाँ हैं। इनके नियोजन में कवि की निपुणता अवश्य प्रशंसनीय है। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में काम-पीड़ा से पृथ्वीराज की व्याकुलता भी रूढ़ि ही है और उसके बहाने ऋतु-वर्णन भी।

नट के मुख से रूप-वर्णन सुनकर पृथ्वीराज की आसक्ति की पूर्णता के लिए हंस की कल्पना की गयी है, जो वस्तुतः कोई गंधर्व है, जो शशिव्रता की इच्छा के विरुद्ध उसकी सगाई किसी और से होने जा रही है, यह जानकर, हंस बनकर उसके पास जाता है। उसने शशिव्रता को पूर्वजन्म की चित्ररेखा नामक अप्सरा का अवतार होने की बात बताई और उसे पृथ्वीराज के प्रति प्रेमानुरक्त कर दिया। इसके बाद वह पृथ्वीराज के पास पहुँचकर शशिव्रता के रूप-वर्णन के साथ यह बताकर कि वह चित्ररेखा नामक अप्सरा का अवतार है तथा पृथ्वीराज पर आसक्त है, उसे कृष्ण के, रुक्मिणी की तरह, शशिव्रता के हरण को प्रेरित करता है। यह रूप-गुण-श्रवणजन्य आकर्षण और प्रेमोत्पत्ति प्राचीन काल से प्रचलित भारतीय कथानक रूढ़ि है। इसी तरह अन्य अनेक प्रचलित कथा-रूढ़ियों के प्रयोग के सहारे, सम्भावनाओं के विस्तार से रस-सृष्टि, इस काव्य के रचयिता का प्रयोजन है।

वस्तु-वर्णन

कथा-विस्तार के क्रम में ऐसे अवसर आते गये हैं, जिनमें युद्धों की तैयारी, सेना की व्यूह-रचना, नगरों, दरबारों और राजाओं के वैभव, नारियों के सौन्दर्य और विभिन्न ऋतुओं की शोभा के वर्णन के प्रसंग सुलभ हुए हैं। युद्धों की अनवरत शृंखला के नाते युद्धों की तैयारी सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करने में कवि की उत्सुकता दर्शनीय है। युद्धों के संदर्भ में चक्रव्यूह, मयूर-व्यूह, गिद्ध-व्यूह और गरुड़-व्यूह नामों से अनेक व्यूहों के वर्णनों में समानता के आधार पर विपिन बिहारी त्रिवेदी का अनुमान है कि ये महाभारत से प्रेरित हैं। पर ये व्यूह-वर्णन केवल युद्ध की परम्परा का निर्वाह मात्र करते हैं, 'ये वर्णन इस ढंग के हैं कि हमें व्यूहों की स्थिति का पता नहीं लग पाता। केवल नाम देने और कतिपय निर्देश कर देने मात्र से सेना के आकार और प्रकार का पता लगा सकना सर्वथा असम्भव है।'

राजा के वैभव, शक्ति और राजकीय ऐश्वर्य के प्रमाणस्वरूप नगरों का वर्णन करने में कवि का सहज आग्रह है। निस्सन्देह यह सारा वर्णन वस्तु-परिगणात्मक पद्धति का ही है, चाहे वह गुर्जर नरेश भीमदेव चालुक्य की राजधानी पट्टनपुर का वर्णन हो, चाहे पृथ्वीराज चौहान की इन्द्रपुरी सदृश दिल्ली या कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द के कन्नौज नगर का। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज की दिल्ली के वर्णन के लिए निगम बोध स्थित उद्यान के वृक्षों की सूची देखें—

सुंधं निगम बोधयं जमंन त सोधयं।
तहां सु बाग व्रच्छयं बने सु डाल्ल अच्छयं।

(छ. 5)

समीर तासु बास यं, फलं सु फूल रासयं।
विरष्य बेलि डम्बरं सुरंग पांन अंमरं।

(छ. 6)

सु केसरं कुमं कुमं, मधुप्प बास तं भ्रमं।
अनार दाष पल्लवं, सु छत्र पत्ति ढिल्लषं।

(छ. 7)

इसी प्रकार कनवज्ज पहुँचने पर प्रातःकाल का दृश्य—

तहां प्रात प्रातं बिबं अंब मौरै,
सुरं कंठ कलियंठ रस प्रस्स झोरे।
फली फूल बेली तरूं चढ्ढि सोहैं,
तिनम ओपमा दैन कविचंद मोहै।

(छ. 117)

रवी तेज देषी ससी बाल भागी,
मनो तारिका उड्डि तर सब्ब लागी।
कहों जुही जंभीर गंभीर वासी,
तभी तप्पनी सेब सीसंम सासी।

(छ. 118)

इसी तरह नगर-वर्णन हो तो बादल की गर्जना के स्वरवाले नगाड़ों का बजना, योजनों तक फैले उद्यान, जिसमें नारंगी, दाड़िम पुष्प विकसित होंगे, नगर में द्यूतशालाएँ, वीणा-वाद्य, विभिन्न पेशोंवाले स्त्री-पुरुष, नगर हाट में रत्न, मोती, माणिक्य के हार, बहुमूल्य वस्त्रों का क्रय-विक्रय सब कुछ, कवि, परम्परानुसार गिनाता चला गया है। ज्योनार के प्रसंग में व्यंजनों की लम्बी सूची हाज़िर है।

होली-दीवाली जैसे पर्वों के अवसर हों तो उसकी उमंग और उल्लास के बजाय अपनी जानकारी का प्रदर्शन करने में कवि विशेष उत्साहित रहता है।

भाव-व्यंजना

वस्तु-वर्णन की अपेक्षा भाव-व्यंजना में कवि की सहृदयता विशेष रूप से प्रभावित करती है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में कवि की कुशलता इससे प्रमाणित होती है कि वह कथा के मार्मिक स्थलों को पहचानने और उनके हृदयस्पर्शी निरूपण में कितना सफल हुआ है। चंदबरदाई की प्रसिद्धि युद्धों के अतिशयोक्तिपूर्ण और उद्धत वर्णनों के लिए ही ज़्यादा है, पर 'रासो' में ऐसे ढेरों प्रसंग सुलभ हैं, जहाँ पात्रों की कोमल तथा करुण मनोभावनाओं से कवि का पूरा तादात्म्य हुआ है और उसकी अभिव्यंजना में चमत्कार प्रदर्शन के बजाय मर्मस्पर्शिता का गुण उभरा है।

महान् आत्माएँ गर्भस्थ शिशु के रूप में भी अपना विशिष्ट प्रभाव दिखाती हैं, यह तथ्य गौतम बुद्ध जैसे महान् पुरुषों के जन्मपूर्व उनकी माँ के अनुभवों में वर्णित हुआ है। पृथ्वीराज जैसा तेजस्वी शिशु माँ के गर्भ में जैसे-जैसे विकसित हो रहा है, वैसे-वैसे उनकी माँ के सौन्दर्य की कान्ति शुक्ल पक्ष की शशि-कला के समान दिन-दिन द्विगुणित होती जा रही है,

कितिक दिवस अंतरह रहिय आधान रानि उर।
तदन दिन कला बढ़ंत मेघ ज्यों बढंत भद्द उर।
चन्द्रकला सित पष्ष जेम बाढ़ंत दिनं दिन।
मुगधा जीवन चढ़त मिलत भरतार खिनं खिन।

(छ. 37)

सोमेसर तोंवर घरनि, अनगपाल पुत्रीय।
तिन सु पिथ्य गर्भधरिय दानव कुल छत्रीय।

(आदिपर्व, छ. 38)

पलंग से उतर कर ज़मीन पर लोटने की सहज बाल-चेष्टा तथा बार-बार उठने की असफल कोशिश में उठ-उठकर गिरने का यह स्वाभाविक वर्णन दर्शनीय है—

केसर सु मंडि सुभ भाल छवि। दसन जोति हीरा हरत।
नह तलप इक्क थह थिन रहत। हुलसि हुलसि उठि उठि गिरत।

अथवा माता-पिता की उँगली पकड़कर चलने का यह चित्र—

अंगुरिन लग्गि रगि चलत लाल,
सर मद्धि उठत गज हंस बाल।

(आदिपर्व, छ. 50)

इसमें सरोवर में गज द्वारा बाल हंस को उठाए जाने की सटीक मौलिक उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य है। ये स्वाभाविक चित्र सूरदास द्वारा वर्णित बाल-चेष्टाओं के चित्रों का स्मरण दिलानेवाले हैं।

विवाहों और उनके साथ अनिवार्यतः जुड़े सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग कवि की विशेष रुचि के क्षेत्र हैं। 'रासो' में इंच्छिनी, शशिव्रता और संयोगिता के साथ विवाह के अवसर चंद के कौशल की विशिष्टता के प्रमाण हैं। तीनों ही विवाह हैं, अतः कवि अगर तनिक भी असावधान होता तो इनमें पुनरावृत्ति होनी अनिवार्य थी। पर कवि ने प्रयासपूर्वक इसमें किसी तरह की एकरूपता या आवृत्ति नहीं होने दी है। इंच्छिनी-विवाह ब्राह्मण के हाथों लग्न भेजने की प्रक्रिया से आरम्भ होता है। फिर बारात की सजावट, उसकी अगवानी, तोरण, कलश, कुल-देवता की पूजा, जनवासा, गणेश तथा नवग्रह पूजन, भाँवरें, ज्योनार, दान-दहेज, विदाई आदि पारम्परिक रीतियों का विधिवत् वर्णन हुआ है। इससे भिन्न शशिव्रता-विवाह में हंस और गंधर्व द्वारा पूर्वानुराग की पृष्ठभूमि बनी है और उभयपक्षीय प्रेम के फलस्वरूप शशिव्रता का हरण और विवाह का अवसर उपस्थित हुआ है। संयोगिता के प्रसंग में पूर्वराग संयोगिता की ओर से है। वह पृथ्वीराज की मूर्ति के गले में वरमाला डालकर उसका वरण करती है, बाद में पृथ्वीराज उससे गंधर्व विवाह करता है। यहाँ हरण और युद्ध दोनों की नौबत आती है, पर शशिव्रता विवाह से कुछ अलग परिस्थितियों में, जिनका उल्लेख कथा-प्रसंग में पीछे हो चुका है।

विवाहों के साथ सौन्दर्य-वर्णन, विशेषतः नारी-सौन्दर्य वर्णन के प्रसंग आएँगे ही। चंद द्वारा वयःसंधि का वर्णन प्रसिद्ध है—

राका अरु सूरज्ज बिच उदय अस्त दुहुं बेर।
वर शशिवृत्ता सोमई, मनो शृंगार सुमेर ॥

(शशिव्रताविवाह प्रस्ताव छः 17)

शशिव्रता की वयःसंधि ऐसी है, मानों शृंगाररूपी सुमेरु के दोनों ओर उदय होता सूर्य और अस्ताचलगामी चन्द्रमा एक साथ दिखाई दें। इस उत्प्रेक्षा में अद्भुत कल्पनाशीलता तो है ही, यौवन के तेजोदीप्त रूप की शोभा और कैशोर्य काल की चन्द्रमा-सी शीतलता की व्यंजना अत्यन्त सटीक और कलात्मक है। चमत्कारोत्पादन में अपने स्वाभाविक रुझान के नाते सौन्दर्य-वर्णन के लिए रूपकातिशयोक्ति जैसे

स्थूल अलंकारों का प्रयोग होना स्वाभाविक है। संयोगिता-हरण के पहले गंगा के किनारे पृथ्वीराज मछलियों को मोती चुगा रहा है। आँखें उठाता है तो सामने संयोगिता कैसी दिखाई पड़ती है, कवि रूढ़ उपमानों के द्वारा उसका वर्णन करता है—

कुंजर उप्पर सिंघ सिंघ उप्पर दो पव्वय ।
पव्वय उप्पर भृंग भृंग उप्प्र सिसि सुम्भय ॥

ससि उप्पर इक कीर, कीर उप्पर मृग दिट्ठौ ।
मृग उप्पर कोदंड संघ कन्द्रप्प वयट्ठौ ॥

अहि मयूर महि उप्परह हीर सरस हेमन जर्‍यौ ।
सुर भुवन छंडि कवि चंद कहि तिहि धोषै राजन पर्‍यौ ॥

राजा के धोखे में पड़ जाने से रूपकातिशयोक्ति के साथ भ्रान्तिमान अलंकार का सहज मेल भी कर लिया गया है।

सौन्दर्य-वर्णन के क्रम में सद्यःस्नाता का मोहक रूप कवियों को हमेशा से आकृष्ट करता रहा है। इंच्छिनी के इस नहाए-धोए रूप के चित्रण में उपमाओं की मौलिकता सारे दृश्य को इन्द्रियग्राह्य बनाने में और सहायक हुई है—

करि मंजन अंगाछि तन, धूप वासि बहु रंग ।
भयो देह जनु नेह फुलि हेम भोग जन गंग ॥

प्रथम मिलन की हलकी घबराहट और आनन्द के मिले-जुले अनुभूतिजन्य कम्प को मन्द वायु से लहराती लता से उपमित करने में इंच्छिनी की कमनीय देहयष्टि और उमंगित मनःस्थिति दोनों की अत्यन्त सटीक व्यंजना की गयी है—

हल हलै लता कछु मंद वाय। नव वधू केलि भय कंप पाय।
उपमां उर कव्वि कहीय तांम। जुब्बन तरंग अंगि अंगि काम।

यहाँ नायिका के विभिन्न अंगों के उल्लेख द्वारा उसके यौवनजन्य सौन्दर्य का वर्णन करने की बजाय यौवन को अंग-अंग में तरंगित होता हुआ काम, कहने में भी अप्रस्तुत की नवीनता और उपयुक्तता द्रष्टव्य है। नख-शिख का परिपाटीबद्ध वर्णन करने में भी कवि की दृष्टि हृदय पर पड़नेवाले सौन्दर्य के प्रभाव को साकार करने के लिए सजग है और अपनी कल्पना के नवोन्मेष से नये रस की सृष्टि करती चलती है। इंच्छिनी के नखशिख के ब्यौरे के अन्त की यह उक्ति—

आलोल नैन गति बचन बहु सषिन सोभ मंडिय मनह।
फुल्ली सु सांझ कवि चंद कहि, मन्हु बीजु थरकी घनह ॥

नारी-सौन्दर्य को विद्युत-छटा की तरह कहने की पुरानी रीति की पृष्ठभूमि में 'घटाओं के बीच मानों ठहर गई बिजली-सी' कहने में जो मौलिकता है, वह छायावादी युग में प्रसाद के सौन्दर्य-वर्णन में आए अप्रस्तुत विधान का स्मरण करानेवाली है।

शशिव्रता के प्रिय के प्रथम साक्षात्कार के दृश्य भी अत्यन्त मोहक और हृदयस्पर्शी हैं। गुण-श्रवणजन्य आकर्षण के नाते, जिसे पति स्वीकार कर लिया है, वह मानसमूर्ति सामने साकार हो, तो सहसा रोमांच, उल्लास, संभ्रम आदि अनेक भावों की व्यंजना स्वाभाविक है—

कर्न प्रयंत कटाछ सुरंग बिराजहीं
कछु पुच्छन को जाहि पै पुच्छत लाजहीं,
नैन सैन में बात जु स्रवनन सों कहै,
काम किधौं प्रथिराज भेदि करि ना लहै।

यहाँ 'काननचारी नैन मृग' की तरह केवल नेत्रों की दीर्घता ही व्यंजित नहीं हो रही है। ये कर्णायित लोचन मानों कानों से कुछ पूछना चाहते हैं, इस 'कछु पुच्छन को जाहिं पै पुच्छत लाजहीं' में उत्सुकता, मन का लालायित भाव, हलका संकोच और जो रूप-गुण-वर्णन सुन रखा है, वही इस समय प्रत्यक्ष है, इसके लिए आश्वस्त होने की चेष्टा सब एक साथ संकेतित हैं। वस्तुतः इसे तो 'गिरा अनयन नयन बिनु वानी' से भी कहीं मुखर और कल्पनापूर्ण प्रयोग कहा जा सकता है।

संयोगिता और पृथ्वीराज के प्रथम साक्षात्कार का दृश्य भी अत्यंत ममस्पर्शी बन पड़ा है। एक-दूसरे को देखकर दोनों की क्या स्थिति होती है—कोई कुछ कह ही नहीं पाता है—संयोगिता सोच रही है—

जो जंपौ तौ चित्त हर अनजंपै बिहरंत,
अहि उटठै छंछुन्दरी हिये विलग्गी वंति।

कुछ वैसी ही स्थिति है, जिसे तुलसी ने 'कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा' कहकर व्यक्त किया है। दोनों की मनःस्थितियों की अलग-अलग पृष्ठभूमि है ज़रूर, पर भावातिरेकजन्य वाणी-अवरोध दोनों में एक-सा है।

वसन्तागम के वर्णन द्वारा कवि शैशव के जाने और कैशोर्य काल के आगमन का वर्णन करता है—

पत्त पुरातन झरिग पत्त अंकुरिय उट्ठ तुछ।
ज्यौं सैसव उत्तरिय चढ़िय वैसब किसोर कुछ।

इसमें पत्तों के झड़ने और नये अंकुरों के उठने से शैशव के उतरने और कैशोर्य वय के चढ़ने की सुन्दर व्यंजना हुई है।

प्रथम दर्शन से और मार्मिक क्षण है प्रथम स्पर्श। पृथ्वीराज द्वारा शशिव्रता का हाथ पकड़ना कैसा है–

चौहान हथ्थ बाला गहिय सो ओपम कवि चंद कहि।
मानों कि लता कंचन लहिर मत्त वीर गजराज गहि ॥

दर्पयुक्त वीर नायक को मत्त गजराज और रोमांच, आनन्द तथा मिलन के उछाह से लज्जाशीला सुन्दरी शशिव्रता को कंचन की लहराती लता-सी कहने में रूप-साम्य और भाव-साम्य का सुन्दर समन्वय हो रहा है। फिर अनागत की आशंका और आनन्द के मिले-जुले भाव से आँखों में आनेवाले आँसुओं को 'अमांगलिक का निषेध' करने के लिए शशिव्रता द्वारा पोंछने की सजग चेष्टा का यह दृश्य अपनी स्वाभाविकता, मार्मिकता और प्रभविष्णुता में अतुलनीय है–

गहत बाल पिय पानि सु गुरुजन संभरे।
लोचन मोचि सुरंग जु अंसु बहे टरे।
अपमंगल जिय जानि सु नैनन मुष बही।
मनो खंजन मुष मुत्ति मरक्कत नंषही।

काव्यशास्त्रोक्त 'भावशबलता' में ऐसे भावपूर्ण उदाहरण कम मिलेंगे।

ऋतु-वर्णन के लिए बहाने ढूँढ़ना, मध्य काल तक की बहुप्रचलित रूढ़ि रही है। *संदेशरासक* में पथिक के मात्र इस प्रश्न से कि 'तुम इस तरह कब से विरह से दग्ध हो?' कवि को वर्ष भर के ऋतु-क्रम में प्राकृतिक परिवर्तन द्वारा उद्दीप्त विरह-वेदना के वर्णन का बहाना मिल जाता है। यहाँ भी पृथ्वीराज विवाह के लिए यात्रा पर जाने से पहले रानियों से अनुमति लेने जाता है। इंच्छिनी पटरानी है, अतः उसके पास राजा सबसे पहले जाता है। संयोग से वह समय वसन्त-ऋतु का है। जब आमों में बौर आ गए हों, मकरन्द लोभी भौंरों का मँडराना शुरू हो गया हो, लम्बी रातों में विरहाग्नि तीव्र करनेवाली शीतल मंद वायु बहने लगी हो, तो रानी कैसे राजा को जाने की अनुमति देगी–

मवरि अंब फुल्लिग। कदंब रयनी दिघ दीसं।
भवर भाव भुल्लै। भ्रमंत मकरंदव सीसं ॥

बहत बात उज्जलति। मौर अति विरह अगिन किय ।
कुहु कुहंत कल कंठ। पत्र राषस रति अग्निय ॥

पयलग्गि प्रान पति बीनवों नाह नेह मुझ चित धरहु।
दिन दिन अवद्धि जुब्बन घटय। कंत बसंत न गम करहु।

दूसरी रानी पुण्डीरनी ग्रीष्म-ऋतु के दिनों की दीर्घता, चक्रवाक की प्रसन्नता, (इस बहाने पृथ्वीराज के चले जाने पर अकेली रानी के सम्भाव्य दुःख की ओर इशारा भी है) सूखते हुए सरोवर में तड़पती मछली, पत्रहीन लताएँ (विरहिणी नायिका की भावी विषण्ण मूर्ति की ओर संकेत) इन सबका उल्लेख करती है–

दीरघ दिन निस हीन। छीन जलधर वैसनंर।
चक्रवाक चित मुदित। उदित रवि थकित पंथ नर॥

चलत पवन पावक। समान परसत सुताप मन।
सुकत सरोवर मचत। कीच तलफंत मीन तन॥

दीसंत दिगम्बर सम सुरत। तरु लतान गय पत्त झरि।
अक्कुलं दीह संपति विपति। कंत गमन ग्रीषम न करि॥

वर्षाकालीन अम्बर में गरजते, उमड़ते मेघों का आडम्बर, बरसते जल से पल्लवित–अर्थात् उल्लसित लताएँ और अपने पाँचों बाणों का संधान करता कामदेव–इन्द्रावती कहती है कि यह ऋतु क्या प्रवास करने की है?

घुमड़ि घोर घन गरजि। करत आडम्बर अम्बर।
पूरत जलधर धसत। धार पथ थकित दिगम्बर॥

झंझकित द्रिग सिसु म्रगग। समान दमकति दामिनि द्रिस।
बिहरत चात्रग चुबत पीय दुषंत समं निसि॥

ग्रीषम बिरह-द्रुम लता तन, परिरंभन क्रत सेन हरि।
सज्जंत काम निसि पंचसर। पावस पिय न प्रवास करि॥

अन्य ऋतुओं की तुलना में वर्षा का वर्णन अधिक प्रभावशाली हुआ है।

शरद् ऋतु उससे भी कहीं मोहक है। दर्पण जैसा स्वच्छ आकाश, उज्ज्वल जलवाली नदियाँ, सरोवरों में खिले कमल, अमृतवर्षी चन्द्रमा, पुष्पित लताओं पर गुंजार करते भौंरे; मोहक शरद् ऋतु में पति का जाना 'हे कंत दुसह दारुण है' यह कहकर हंसावती पृथ्वीराज को रोक लेती है–

द्रप्पन सम आकास स्रवत जल अमृत हिमकर।
उज्जल जल सलिता सु सिद्धि सुन्दर सरोज सर॥

प्रफुलित ललित लतानि। करत गुंजारव भ्रंमर।
उदति सित्त तिसि नूर। अंग अति उमंगि अङ्ग बर ॥

तलफंत प्रान निसि भवन तन, देषत दुति रिति मुष जरद ।
ननु करहु गवन नन भवनतजि, कंत दुसह दारुन सरद ॥

हेमंत की दीर्घ रातें, अंगों को सतानेवाला शीत, ऐसे में पति को प्रवास के लिए अनुमति की बात सोची भी नहीं जा सकती—

न चलि कंत सुभ चित्त। धनी बहु वित्त प्रगासी ।
गह गहि ऐसी प्रेम। सौज आनन्द उहासी ॥

दीरघ निसि दिन तुच्छ। सीत संतावै अंगा ।
अधर दसन घरहरै। प्रात परजरै अनंगा ॥

जा ऐनि रैनि हर हर जपत। चक्क सद्द चक्की कियौ ।
हिमवंत कंत सुग्रह ग्रहिल करं हहत फुट्टै हियौ ॥

अंत में आ जाती है शिशिर ऋतु। जो पाँच ऋतुओं के दस महीनों का कार्यक्रम था, वही शिशिर का होना था, क्योंकि वर्षभर के प्रणय निवेदन के साथ रुकने की मनुहार राजा की आकांक्षा के प्रतिकूल भी नहीं रहती--

आगम फाग अवंत कंत सुनि मित्त सनेही ।
सीत अंत तप तुच्छ होइ आनंद सब ग्रेही ॥

नर नारी दिन रैनि मैन मदमाते डुल्लैं ।
सकुच न हिय छिन एक वचन मनमाने बुल्लैं ॥

सुनौ कंत सुभ चित्त करि। रयनि गवन किम कीजिइय।
कहि नारि पीय बिनु कामिनी। रिति ससिहर किम जीजइय।

ऐसी दारुण शीतमय ऋतु में जब प्रियविहीन प्रिया का जीवन ही दुःसाध्य हो, तो राजा को रुकना ही होगा। बड़ी कुशलता से चंद ने राजा के प्रणय लोभी मन और उद्दीपक ऋतुवर्णन का मेल बिठा दिया और फिर यह चक्र दुबारा न आरम्भ हो इसका उपाय भी निकाल दिया। दूसरे वसंत के आने पर परामर्श करने के लिए राजा चंद की शरण जाता है—

षट रिति बारह मास गय फिरि आयौरु वसंत,
सो रिति चंद बताउ मुहि तिया न भावै कंत।

और चंद 'ऋतु' शब्द के श्लेष के सहारे राजा की मुक्ति का रास्ता निकाल देता है। पृथ्वीराज का केलि-विलास समाप्त होता है और वह अंततोगत्वा अपनी पूर्व नियोजित यात्रा पर प्रयाण करता है। कनवज्ज समय का यह ऋतु-वर्णन उद्दीपन रूप में है और पारम्परिक ढर्रे का ही है। वैसे नामवर सिंह इसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं, ''ऊपर से देखने पर इसमें परिपाटी-विहित बातें पर्याप्त मिलेंगी और उद्दीपन के रूप में ही प्राकृतिक सुषमा का प्रयोग दिखेगा, किन्तु यह उस ह्रास-युग के दृष्टिकोण की सीमा है। 'रासो' के षट्ऋतु-वर्णन की विशेषता इस बात में है कि वह आरोपित न होकर मानवीय क्रिया-कलाप का अभिन्न अंग बनकर आया है और इस प्रकार कथा-प्रवाह को गति देता है। उसकी क्रियाशीलता में ही शोभा है।"[3]

इस ऋतु-वर्णन की अपेक्षा अन्तिम युद्ध के लिए पृथ्वीराज के प्रयाण के फलस्वरूप सम्भावित वियोग वर्णन का एक ही छंद अपनी सहजता से मन को छू जाता है। बाह्य प्रकृति के उपकरण वही हैं, वही पावस की रात, वही इन्द्रधनुष, वही चपला चमकती विद्युल्लता, मोरों और पपीहों का वही स्वर है—वही ज़मीन और आसमान है, पर प्रिय पति के बिना कुछ भी सुहाता नहीं—

वही रत्ति पावस्स। वही मघवान धनुष्षं।
वही चपल चमकंत। वही बगपंत निरष्षं॥

वही घटा घनघोर। वही पप्पीह मोर सुर।
वही जमी असमान। वही रवि ससि निसि बासर॥

वे ई आवास जुग्गिन पुरह। वेई सहचरि मंडलिय।
संजोगि पयंपति कंत बिन। मुहि न कछू लग्गत रलिय॥

विस्तृत ऋतु-वर्णन की अपेक्षा इस एक छंद की अतिरिक्त हृदयस्पर्शिता इसके परिस्थितिजन्य होने और अनुभूति की हार्दिकता के कारण है, जो अपनी अकृत्रिम सहजता में और मार्मिक हो उठी है।

'रासो' की कथा के अत्यन्त मार्मिक स्थलों में से एक है—ग़ज़नी की क़ैद में पश्चात्ताप से दग्ध हृदय पृथ्वीराज की मनोदशा का चित्रण। पृथ्वीराज को शत्रु के द्वारा बन्दीगृह में डाल दिया गया। यही नहीं, उसकी आँखें भी निकाल ली गयीं। उस नितान्त असहाय स्थिति में अपने विगत जीवन की सारी स्मृतियाँ और मानसिक द्वन्द्व उसकी मनोदृष्टि में साकार होते हैं। पूर्वदीप्ति (फ्लैशबैक) पद्धति का कैसा उपयुक्त प्रयोग है—

परयो बंधनं गज्जनै मेछ हथ्थं विचारै करी अप्प करतूति पिथ्थं ।
हन्यो दासि कै हेतु कैमास बानं गजं षून चामंड बेरी भरानं ।
बंधे कन्ह काका चष पट्ट गाढ़े बिना दोस पुंडीर से भ्रत्त काढ़े ॥

यह लम्बा स्वगत कथन है, जिसमें पृथ्वीराज जीवनभर की भूलों के लिए पश्चात्ताप करता है। वह अपनी उस कामान्धता पर पश्चात्ताप करता है, जिसके लिए उसको सामन्तों के मारे जाने का भी शोक नहीं हुआ था, चंद के मना करने पर भी कन्नौज पर चढ़ाई की थी और सारी सेना कटवा दी थी। आज वे ही सारे अनाचार और अत्याचार उसकी इस दुर्दशा के रूप में उसे दण्डित कर रहे हैं।

वर्तमान दुरवस्था के परिणाम की पीड़ा भोगते हुए इस एकाकी राजा की यह स्मृति अत्यन्त कारुणिक है। बंदीगृह की पीड़ा के दिनों में पिछले विलास और सुखपूर्ण जीवन का स्मरण अतिरिक्त रूप से मर्मस्पर्शी हो गया है—

स हौ फूल की फूलनी नाहिं नाथं। तुरत्तं तरायौ जु मालीन हाथं ॥
नहीं सूर सामंत परिवार देसं। नहीं गज्ज बाजं भंडार दिलेसं ॥

• • •

नहीं रूपकं राग रंगं उचारं। सुनों कन्न सावद्द वंगं पुकारं ॥
नहीं चोम मौजं करूं लष्षदानं। नहीं भट्ट चंदं विरद्दं बषानं ॥

और इस निपट असहायता में राजा सिवाय ईश्वर के किसे पुकारे?

निराधार आधार करतार तूंही
बन्यो संकटं आय मो लीव सोंही।
कली क्रद्दमंगाय वृन्दावनी को,
संभालो नहीं तो कहाओ धनी क्यों।

इन कारुणिक प्रसंगों के ये मार्मिक वर्णन, चंद-जैसे उद्धत और प्रचंड युद्ध-वर्णनों और सेना की तैयारी के आडम्बरपूर्ण दृश्यों की योजना करनेवाले कवि द्वारा ही रचित है, यह सचमुच चमत्कृत करनेवाला है।

पृथ्वीराज रासो वीर तथा उसके सहयोगी रसों के प्रभावपूर्ण वर्णन के लिए ख्यात है। ये चंदबरदाई की प्रकृत रुचि के प्रसंग हैं। अतः प्रचण्ड और उद्धत युद्ध-वर्णन की चर्चा के बिना भाव-व्यंजना का यह विवेचन अधूरा रहेगा। *साहित्यदर्पणकार* ने वीर के युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर आदि चार भेद किये हैं और *रसगंगाधर* में भी इन भेदों को स्वीकार किया गया है। आचार्य शुक्ल ने वीर

रस की प्रेरक भावभूमि की व्याख्या करते हुए कहा—"सबसे प्राचीन और प्रधान युद्धवीरता है, जिसमें आघात, पीड़ा या मृत्यु तक की परवाह नहीं रहती... जिसमें साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं। 'रासो' में वीरत्व का आदर्श है, स्वामिधर्म के लिए हँसते-हँसते सर्वस्व निछावर कर देना। उस युग में एक श्रेष्ठ योद्धा के लिए क्षात्र-धर्म और जीवन-मरण विषयक मान्यताओं के अद्भुत आदर्श प्रतिष्ठित थे। दया, दान, तप, तीर्थ आदि कुछ भी स्वामिधर्म की समता नहीं कर सकते। क्षात्र-धर्म तथा स्वामिधर्म की श्रेष्ठता की बेजोड़ उक्तियाँ 'रासो' में भरी पड़ी हैं। उदाहरणार्थ कर्तार ने हाथ में तलवार दी है और यही राजपूत के लिए तत्त्व है—

करतार हत्थ तरवार दिय, इह सु तत्त रजपूत कर।

चिर धूमायित जीवन की अपेक्षा क्षण भर के लिए प्रज्वलित और प्रदीप्त होकर जीना कहीं श्रेयस्कर है—

मरना जीवन हक्क है जुग्ग रहेगी गल्हां ।
सा पुरुसा का जीवणां, थोड़ाई है भल्लां ॥

ऐसे विश्वासों में सांस लेनेवाले वीर क्षणभर में विध्वंसित हो जाने वाली काया की चिन्ता से मुक्त होकर युद्ध में जूझ जाते हैं। उस युग के वीरत्व का आदर्श इन्हीं आस्थाओं में निहित है—

जीविते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुरांगणा ।
क्षणो विध्वंसिनी काया का चिन्ता मरणे रणै ॥

सुल्तान गोरी के आक्रमण का समाचार पाते ही पृथ्वीराज अपने सामन्तों को बुलाकर मंत्रणा करता है और युद्ध का निर्णय करके तैयारी शुरू कर देता है—

कहत सब्ब सामंत मति, चढ़ि दल सजौ समंकि ।
सुनिव मंत्र कैमास कहि, करहु निसान टमंकि ॥
भय दामक निसान पत्त निज ग्रह सूर सामंत ।
बाजे बज्जि अनेकं हयं मंगे राज चउहानं ॥

सुल्तान गोरी आलम्बन, उसके आक्रमण का समाचार उद्दीपन, सामंतों की गर्वसूचक बातें (चटि दल सजौ समंकि) आदि और मंत्री कैमास की सलाह 'करहु निसान टमंकि' आदि अनुभावों के साथ शत्रु से मोर्चा लेने के लिए धैर्य और आत्म-विश्वास आदि संचारियों से युक्त वर्णन में वीररस का परिपाक हो रहा

है। युद्ध के जुझाऊ नगाड़ों पर चोट पड़ने, अन्य बाजों के बज उठने, चौहान राजा द्वारा घोड़े माँगने आदि के उल्लेख से उत्साह का वातावरण भी उत्पन्न हो रहा है।

गोरी भले ही चरित नायक का शत्रु है, परन्तु उसकी सेना की तैयारी और युद्धोत्साह के वर्णन में भी चंद ने कोई कृपणता नहीं की है–

सुनि चरित्त साहाब वर दिय निरघाष निसान ।
चढ़्यौ सैन सज्जे सिलह करिब फौज सुरतान ॥

चढ़यौ सरतान सुसज्जिय फौज। बजै बरबज्जन बीर असोज ॥
भयौ गज घुम्मर घंट विघौर। मनौ झुमि क्रंन्न भयो सुर रोर ॥

गजै गज मद्द मनौ घन भद्द। चिकार फिकार भये सुर रुद्द ॥
तुरंग महीस कडक्क लगाम। परक्किय पष्षर तोन सुतांन ॥

यहाँ इस वीर रस का आलम्बन पृथ्वीराज है, जिसकी युद्ध की तैयारी आदि का समाचार उद्दीपन है। सुल्तान द्वारा नगाड़े बजवाना तथा जिरह-बख़्तर आदि से सुसज्जित सेना लेकर चढ़ाई के लिए चल पड़ना अनुभाव, गोरी का साहस गर्व आदि संचारी के रूप में रस के सभी अंग स्पष्ट हैं। सेना के जोश, गज घंटों के स्वर और पक्खरों की खड़खड़ाहट आदि से पूरा वातावरण ही सजीव हो उठा है। शत्रु की शक्ति और तैयारी को जानते हुए भी सुल्तान का युद्ध के लिए आगे बढ़ना उसके अदम्य उत्साह का द्योतक है।

वीर के साथ अन्य कठोर रसों के प्रसंगों में भी चंद की कुशलता के प्रमाण प्रासंगिक हैं। युद्ध-स्थलों के वर्णनों में वीर, रौद्र और वीभत्स–तीनों रसों का सुन्दर और समन्वित प्रतिफलन मिलता है–

सजिय सकल सन्नाह, दाह जनु दंगल पट्टिय ।
सुमरि साह इक देव, दुवन दल देषि दपट्टिय ॥

छुट्टिय पट्टिय नयन, भइ दुंदुभी गयन्ना ।
तेग वेग झमझमिय, मच्च आरीठ भयन्ना ॥

बजि डौंरुअ डक्क निसान घुरं बीर जगावत बीर उरं।
दुअ सेन बलं असियो बरषी नचि जुग्गनि षप्पर लै हरषी।

यहाँ सनाह आदि से सुसज्जित होने का उत्साहपूर्ण दृश्य वीर रसात्मक है, तेग झमझमाना रौद्र रस का तथा पंजर कटना और योगिनियों का खप्पर लेकर

नाचना वीभत्स का द्योतक है। इन तीनों के समन्वित वर्णन में कहीं कोई असंगति या अनुपयुक्तता का न होना, इसे सचमुच प्रभावशाली बनाता है।

भयानक रस के प्रसंग भी 'रासो' में प्रभूत रूप से पाए जाते हैं। मनुष्यों को ढूँढ़-ढूँढ़कर खाने के कारण उस विकट दानव का नाम ढूँढ़ा पड़ा था। उसने अजमेर नगर को उजाड़ डाला—

ढूंढ़ि ढूंढ़ि खाए नरनि ताते ढूंढ़ा नाम ।
देव पुरी अजमेर पुर, रम्य करी बेराम ॥

उस दानव के भय से नगर की ऐसी दशा हो गयी कि उसमें किसी जीव का प्रवेश करने का साहस नहीं रहा, दिशाएँ शून्य हो गयीं और उसकी हिंस्र वृत्ति के कारण सिंह जैसे पशु तक भाग खड़े हुए, अन्य पशुओं की तो बात ही क्या?

सो दानव अजमेर वन रह्यों दीह घन अंत।
सुन्न दिसानन जीव कौ, थिर थावर जग मंत।
तंह सिंह न म्रग्ग न पंषि वनं, दिसि सून भई डर जीव घनं ॥

मुँह से विष की ज्वाला निकालते हुए उस विकराल दानव ने मनुष्यों को खाना शुरू कर दिया—

जिन रथी मद्धि उठे असुर धषै ज्वाल तिन मुष विपय ।
नर भषै जहां लसकर सहर मिले मनिष ते ते भवय ॥

यहाँ आलम्बन रूप दानव के प्रचण्ड रूप और असहाय मनुष्यों को ढूँढ़-ढूँढ़कर खाने का दृश्य उद्दीपन विभाव की शास्त्रोक्त शर्त के रूप में है, सो है ही, सारे वर्णन की भयावहता से उत्पन्न आतंक अत्यन्त प्रभावशाली है।

छन्द

छंदों के प्रयोग-कौशल की दृष्टि से *पृथ्वीराज रासो* अतुलनीय है। 12वीं-13वीं शती में अपभ्रंश साहित्य में छंद-परिवर्तन की प्रथा ख़ूब प्रचलित थी। मध्यकाल में केशवदास तक आते-आते यह अपने आप में साध्य बन गयी। केशवदास ने *रामचन्द्रिका* का बहु छन्दों में वर्णन करने का निर्णय करके काव्य-रचना आरम्भ की। छंद वस्तुतः भाषा में विविध प्रकार की लय उत्पन्न करने के साधन होते हैं, जो प्रसंग-भेद से पाठक के चित्त में तदनुकूल उद्वेलन उत्पन्न कर रसानुभूति में सहायक होते हैं। केशव में छंद-परिवर्तन के निरर्थक और निर्जीव रूप की

विकृति दिखाई देती है। जबकि, चन्द में इसका सजीव और सार्थक रूप दृष्टिगोचर होता है। गंगा-वर्णन का यह छंद गंगा की महिमा-वर्णन के साथ धारा के तरल प्रवाह की तालबद्धता के संगीत को भी मूर्तिमान कर देता है–

> हरि हरि गंगे तरल तरंगे अघ क्रित भंगे व्रित चंगे ।
> हरि सिर परसंगे जटनि विलंगे विहरति दंगे जल जंगे ॥
> मुन गंध्रब छंदे जै जै बंदे क्रित अघ कंदे मुष चंदे ।
> मति उच गति मंदे दरसत नंदे पढ़ि वर छंदे गत दंदे ॥

वियोग-वर्णन में भाव-तन्मयता के लिए शिथिल प्रवाह के निमित्त कवित्त का उपयुक्त प्रयोग हुआ है। चंद के छंद-प्रयोग-कौशल के ऐतिहासिक महत्त्व को निर्दिष्ट करते हुए नामवर सिंह ने स्वीकार किया है–"रासो एक ही साथ संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की प्राचीन छंद-परम्परा के पुनरुज्जीवन तथा हिन्दी के नूतन छंद-संगीत के सूत्रपात की संधि-वेला है। इस तमाम छंद-संघटन में भी 'रासो' का अपना हिन्दी काव्योक्ति संगीत सर्वोपरि है।"[4] शिवसिंह सेंगर ने बहुत पहले ही अपने इतिहास ग्रंथ *शिवसिंह सरोज* में चंद को छप्पयों का राजा कहकर चंद के छंद-प्रयोग कौशल का महत्त्व घोषित कर दिया था।

छंद-प्रयोग को आधार बनाकर 'रासो' की प्रामाणिकता/अप्रामाणिकता के निर्णय का भी प्रयास किया गया है। श्यामलदास ने 'रासो' में छप्पय और दूहा के अलावा और किसी छंद का अस्तित्व ही नहीं माना। पर द्विवेदीजी ने इस पर आपत्ति करते हुए ध्यान दिलाया, "वैसे तो हर तलवार की झंकार में चंदबरदाई त्रोटक, तोमर, पद्धरी और नाराच पर उतर आते हैं, पर जमकर वे छप्पय और दूहा ही लिखते हैं। यह अत्यन्त संकेतपूर्ण तथ्य है कि चन्दबरदाई के नाम से मिलनेवाले छंदों में जिनकी प्रामाणिकता लगभग संदिग्ध है, वे छप्पय ही हैं। मुनि जिनविजय ने *पुरातन प्रबंध संग्रह* में चंद के नाम पर मिलनेवाले चार छप्पयों का उल्लेख किया है, उनमें से तीन स्वयं ही वर्तमान 'रासो' में ढूँढ़ निकाले हैं।"[5] अनेक सुप्रसिद्ध और प्रचलित छन्दों के साथ मंगल काव्य भी 'रासो' में आया है, जो छन्द-प्रयोग में चंद की प्रयोगधर्मिता और तत्सम्बन्धी कुशलता का प्रमाण है।

भाषा

पृथ्वीराज रासो की अभूतपूर्व लोकप्रियता के बावजूद इसके अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा इसकी भाषा है। विपिनबिहारी त्रिवेदी ने 1952 ई. में इसकी भाषा को 'दुर्भेद्य दीवाल' कहा था, जिसके कारण इसके वास्तविक अर्थ तक

पहुँचना बाधित होता है। वह बाधा आज भी समाप्त नहीं हुई है। इसकी प्रामाणिकता सम्बन्धी विवाद का आरम्भ भी भाषा विषयक विचार-विमर्श से ही हुआ। कर्नल टॉड ने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी को 'रासो' के प्रकाशन के लिए प्रेरित किया था और स्वयं इसका अनुवाद आरम्भ किया था। सोसाइटी के जर्नल में 'पोएम्स ऑफ़ चंदबरदाई'[6] लेख द्वारा इस प्रस्ताव का समर्थन करने पर उन्हें इसकी परीक्षा कर सोसाइटी को रिपोर्ट देने का दायित्व सौंपे जाने की चर्चा पीछे की जा चुकी है। 1869 ई. में बीम्स ने *पद्मावती समय* का अनुवाद किया।[7] ग्राउज़ ने 'ट्रांसलेशन फ्रॉम चंद' शीर्षक लेख लिखकर इस अनुवाद पर आपत्ति की। उन्हें लगा कि बीम्स द्वारा किया गया अनुवाद ठीक नहीं है। इस आपत्ति का आधार भाषागत असंगतियाँ थीं, जिनके निर्धारण का आधार ग्राउज़ के अपने पास का मूलपाठ था। बीम्स ने अपनी ओर से स्पष्टीकरण करते हुए ग्राउज़ का खण्डन किया। 1873 ई. में बीम्स ने 'ए स्टडीज़ ऑफ़ ग्रामर इन चंदबरदाई' प्रकाशित किया। यह सारा विचार-विमर्श भाषा-विज्ञान की दृष्टि से होनेवाले अध्ययन का सूत्रपात था। इस क्रम में डॉ. ग्रियर्सन, डॉ. बूलर, रूसी विद्वान् रॉबर्ट लेंज ने भी अपनी-अपनी तरह से योगदान किया। बीम्स ने 'रासो' की भाषा सम्बन्धी विस्तृत अध्ययन[8] की चर्चा करते हुए डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने कहा—"ग्राउज़ की दी हुई व्याकरण की रूपरेखा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक व्याकरण के ढाँचे का प्रश्न है, 'रासो' की भाषा प्रधानतया सोलहवीं शताब्दी में साहित्य में प्रयुक्त ब्रजभाषा है, न डिंगल अथवा प्राचीन मारवाड़ी है और न अपभ्रंश, किन्तु शब्द-समूह में अपभ्रंशाभास और डिंगल रूपों का प्रयोग 'रासो' में बहुत हुआ है। यह एक शैली मात्र थी, जिसका प्रयोग वीररस सम्बन्धी स्थलों पर अनेक समकालीन कवियों ने किया है, जैसे केशव, तुलसी, भूषण आदि। अन्तर इतना ही है कि युद्ध प्रधान ग्रन्थ होने के कारण ही रासो की भाषा के डिंगल अथवा अपभ्रंश होने का संदेह पाठकों को होने लगता है।"[9]

'रासो' की भाषा के महत्त्व के एक आयाम की ओर ग्रियर्सन ने बहुत पहले 1888 ई. में ही संकेत किया था, "चाहे कुछ हो, परन्तु यह काव्य भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि अभी तक प्राप्त सामग्री को देखते हुए योरोपीय अन्वेषकों के सामने अर्वाचीन प्राकृतों और प्राचीनतम गौड़ीय रचनाओं के बीच की कड़ी के रूप में केवल यही मात्र है। चंद का वास्तविक पाठ न होने पर भी हमें इसकी रचना में गौड़ीय साहित्य के अति प्राचीन अभिज्ञ निदर्शन प्राप्त होते हैं, जो शुद्ध अपभ्रंश और शौरसेनी प्राकृतों से भरे पड़े हैं।"[10] ग्रियर्सन की इस मान्यता में निहित सम्भावना को स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह

का निष्कर्ष था, "ग्रियर्सन के अनुसार *पृथ्वीराज रासो* की भाषा का अध्ययन केवल उस रचना को समझने के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि उसका महत्त्व भारतीय आर्य भाषा के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से भी है।"[11] इस 'महत्त्व' के उद्घाटन के लिए नामवर सिंह ने *पृथ्वीराज रासो* की भाषा पर व्यवस्थित और सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया जो अब भी इस दृष्टि से किया गया एकमात्र कार्य है।

डॉ. दशरथ शर्मा तथा मीनाराम रंगा ने 'रासो' को परम्परानुसार प्राचीन राजस्थानी रचना कहा[12] लेकिन उन्होंने उस परम्परा का कोई उल्लेख नहीं किया, जिसमें 'रासो' को राजस्थानी रचना माना गया हो। 'रासो' की भाषा के सम्बन्ध में विस्तार से विचार करने के बाद नामवर सिंह का निष्कर्ष है, "अपभ्रंश के बाद पश्चिमी भारत में दो मुख्य भाषाएँ उत्पन्न हुईं—दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान में डिंगल तथा पूर्वी राजस्थान और ब्रजमण्डल में पिंगल... *पृथ्वीराज रासो* पूर्वी राजस्थान में मूलतः चंद बलिद्द द्वारा अपभ्रंशोत्तर युग में रचा गया है और अनेक प्रक्षेपों के साथ, अपने विभिन्न रूपान्तरों में भी यह पिंगल की ही रचना है। निस्सन्देह प्रक्षेपों के साथ भाषा के परवर्ती रूपों का समावेश भी होता गया है, किन्तु आद्योपान्त बृहद् रूपान्तर (जिसे प्रायः सबसे परवर्ती कहा जाता है) की भी भाषा का आधार एक ही ब्रज भाषा अर्थात् पिंगल है।"[13] 'रासो' की भाषा के जो अनेक प्रकार के नामकरण किए गए, उन सबको अस्वीकार करते हुए नामवर सिंह का निर्णायक मत है, "*पृथ्वीराज रासो* का वर्तमान रूप व्यक्तिविशेष की कृति न होकर पीढ़ियों का संकलन है, इसलिए उसमें भाषा के स्तर-भेद स्वभावतः आ गए हैं, जो वस्तुतः शैली-भेद के द्योतक हैं, भाषाभेद के नहीं।"[14]

इसी संदर्भ में 'रासो' में आई 'पट्भाषा पुरान च कुरानं पुरानं कथितं मया' वाली उक्ति को केवल उस युग में बहुभाषाविद् के अर्थ में प्रयुक्त रूढ़ कथन मानना चाहिए न कि 'रासो' में षड्भाषा के नाम पर अरबी-फ़ारसी के तत्त्व ढूंढ़ने का प्रयास करना। बीम्स ने एक ही शब्द के विविध रूपों के प्रयोग की व्याख्या करते हुए इन्हें छंदानुरोध तथा भाषा की संक्रमणशीलता का परिणाम कहा था। नामवर सिंह ने उदाहरणों से प्रमाणित किया है, "निस्सन्देह ऐतिहासिक दृष्टि से *पृथ्वीराज रासो* ऐसे युग की भाषा का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें तद्भव शब्दों का रूप स्थिर नहीं हो सका था, फलतः एक शब्द के अनेक रूप प्रचलित थे।"[15]

पृथ्वीराज रासो में चित्रित तद्युगीन जीवन

सामान्यतः साहित्य कहीं प्रत्यक्ष या अधिकतर परोक्ष रूप से तद्युगीन जीवन

को प्रतिबिम्बित करता है। इस संदर्भ में *पृथ्वीराज रासो* पर विचार करते समय उस पूरी पृष्ठभूमि और विवेचन का भी ध्यान रखना होगा, जो अब तक उसकी प्रामाणिकता और संभावनाशीलता के प्रसंग में हुआ है। यह सत्य है कि अन्ततोगत्वा ऐतिहासिक प्रामाणिकता से निरपेक्ष होकर साहित्यिक दृष्टि से ही इस ग्रंथ का मूल्यांकन उचित और सार्थक माना गया। लेकिन साहित्य कवि या लेखक के मनोजगत् की सृष्टि होती है और वह मनोजगत् चतुर्दिक् फैले बाह्य जगत् के अनुभवों से निर्मित होता है। व्यक्ति जिस समाज के बीच रहता है, वही उसके राग-द्वेष और हर्ष-विषाद का स्रष्टा होता है, उससे प्राप्त अनुभवों के ताने-बाने से ही उस मन की रचना होती है, जो कवि या लेखक की कृति का उत्स है। *पृथ्वीराज रासो* इतिहास प्रसिद्ध पुरुष को केन्द्र में रखकर लिखा गया काव्य है ज़रूर, पर वहाँ इतिहास गौण है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में, "वह केवल कवि की कल्पना-वृत्ति को उकसाने और मनोहरतर जगत् के निर्माण के लिए सहायक है।" अतः इस कल्पना की उड़ान और सम्भावनाओं की दिशा निर्धारित करनेवाले तथ्यों तथा तत्कालीन समाज की वास्तविकता की झलक प्राप्त करने का प्रयास अपेक्षित है।

उस युग के जातिवद्ध समाज में युद्ध भी जातिविशेष अर्थात् राजपूतों का दायित्व था। वे राजा थे, अतः अपने राज्य की रक्षा के लिए युद्ध अनिवार्य हो जाता था। पश्चिम की ओर से होनेवाले दुर्दान्त विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने के लिए तत्पर रहना होता था। पर हमेशा इन आक्रमणकारियों से रक्षा ही युद्ध का कारण न होता था। बहुधा युद्ध अपने शौर्य, पौरुष और पराक्रम को प्रमाणित करने का साधन बन जाता था। पारम्परिक महिमा गान के बावजूद स्त्री उस युग में विलास का उपकरण या पराक्रमपूर्वक 'जीती गई' वस्तु मात्र थी, जो विजयी राजा के दर्प की पोषक होती थी। युद्धों और विवाहों का अन्योन्याश्रित सम्वन्ध उस युग के लिए ऐसा सहज स्वीकार्य प्रसंग था कि मुहम्मद गोरी के साथ युद्ध के मूल में भी इसी तरह के कारण की कल्पना कर ली गयी है कहा गया कि गोरी अपने दरबार की सुन्दरी चित्ररेखा पर आसक्त हो गया और उसे ज़बरदस्ती अपने हरम में डालना चाहा। चित्ररेखा और उसके प्रेमी उमराव गोरी के अत्याचार से आत्मरक्षा के लिए पृथ्वीराज की शरण में आ गए। इस स्थिति में शरणागत की रक्षा के लिए पृथ्वीराज को गोरी से युद्ध करना पड़ा। तात्पर्य यह कि उस युग में या तो किसी की रूपवती कन्या को प्राप्त करने के लिए युद्ध किए जाते थे या युद्ध में हार जाने के बाद विजित राजा जैसे विजयी राजा को अनेक प्रकार के बहुमूल्य उपहार भेंटस्वरूप प्रदान करता था, उसी क्रम में

उसको अपनी कन्या भी भेंट में दे देता था। पराजित राजा की कन्या से विवाह कर लेना विजय की पूर्णाहुति होती थी। विवाह मात्र अहंकार की तुष्टि का साधन बन जाए, यह मध्यकालीन सामन्ती मानसिकता की क्षयशीलता का एक प्रमुख लक्षण है।

इसी से एक ओर वीरता के ऐसे खोखले आडम्बरपूर्ण आदर्श बने, जिसमें किसी को अपने सामने मूँछों पर हाथ रखते देखना इतना नागवार लग जाए कि उसका सिर काट लिया जाए, दूसरी ओर, राजा के सुन्दरीहरण को सफल बनाने के लिए सारे सामन्त प्राणोत्सर्ग कर दें। कहना न होगा कि वीरत्व की ऐसी धारणाएँ मूलतः कैसी आत्मघाती होती हैं, यह आगे अपने वीर सामन्तों के मारे जाने से कमज़ोर राजा के गोरी के हाथों पराजित होने, बंदी होने और अन्ततः अंधे होकर मारे जाने के अपमान तथा विनाश से सिद्ध है।

इन युद्धों के लिए बाक़ायदा युद्धोन्माद उत्पन्न करते रहने के निमित्त चारणों का वर्ग ही बन जाए, इससे भी युद्धों के प्रयोजन पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। जब कोई बड़ा लक्ष्य सामने न हो, केवल राजा की निजी अनियंत्रित आकांक्षाओं के आवेग की पूर्ति के लिए सारी व्यवस्था समर्पित हो, तो उसकी कैसी कारुणिक परिणति होती है 'रासो' में इसका बहुत सटीक चित्र मिलता है। पृथ्वीराज अपनी रानियों के साथ केलि-विलास में ऐसा डूबा हुआ है कि उसे राज्य संचालन के अपने दायित्व का कोई ध्यान ही नहीं है। यहाँ तक कि उपयुक्त अवसर देखकर शहाबुद्दीन गोरी चढ़ाई कर देता है। राजा के इस निहायत उत्तरदायित्वहीन आचरण से असहाय और अरक्षित प्रजा की विवशता का बहुत संकेतपूर्ण वर्णन है—

'मिलिय सकल एकान्त महाजन। किमि बुज्झैं रतिवन्तौ राजन।'

मृगया-विहार और केलिविलास के ये चित्र मध्य-युग के ह्रासशील सामन्ती-जीवन की ट्रेजेडी की कथाएँ हैं।

जब राजा युद्ध की योजना बनाने के बाद पूरा एक वर्ष अपनी रानियों से अनुमति लेने में बिता देता हो (चाहे उसके मूल में कवि द्वारा ऋतु-वर्णन के लिए बहाना ढूँढ़ना ही क्यों न हो) वहाँ युद्ध भी उपहास का विषय हो जाता है। अरक्षित प्रजा ऐसे विलासी और युद्धप्रिय राजाओं की अहंकार-तुष्टि का साधन बनकर रह जाती है। यह उस ह्रासोन्मुख सामन्ती समाज का चित्र है, जिसके लिए आचार्य द्विवेदी का कहना है, "आश्रयदाता राजाओं के गुण-कीर्तन और काव्यगत रूढ़ियों पर आधारित साहित्य सूक्तियों को जन्म दे सकता है, पर वह समाज को किसी नए रास्ते पर चलने की स्फूर्ति नहीं दे सकता।"[16] इसी से ह्रासोन्मुखी सामन्ती शक्तियों के अन्तर्विरोध का चित्रण करनेवाले इस महाकाव्य की वीर

भावना में नामवर सिंह को न "महाभारत का उदात्त शौर्य और पराक्रम दिखा, न इसकी शृंगार भावना में कालिदास की सी मुग्ध तन्मय भावाकुलता।"[17]

कवि ने अपनी 'कल्पना वृत्ति को उकसाने' और 'मनोहरतर जगत् के निर्माण के लिए' इतिहास को माध्यम बनाया है। इस संदर्भ में प्रश्न उठता है कि कवि की 'कल्पना वृत्ति' उसका 'मनोहरतर जगत्' उसकी आकांक्षा क्या है? उसके सरोकार क्या हैं? उसका तादात्म्य किसके साथ हुआ है? वह अपने युग के जिस समाज के सुख-दुःख से विगलित या विचलित हुआ, वह कौन-सा वर्ग है? कवि के रागात्मक सम्बन्धों की व्याप्ति का वृत्त कितना बड़ा है? इन प्रश्नों का उत्तर थोड़ा निराश करता है। तद्‌युगीन साधारण समाज रासोकार के लिए हाशिए पर है। सामन्ती समाज का आडम्बरपूर्ण जीवन, व्यक्तिगत निष्ठाओं के लिए मर मिटने का संकल्प, हँसते-हँसते प्राणोत्सर्ग का निर्भय साहस, स्वाभिमान और दर्प भरे वीरत्व का अनोखा आदर्श, जिसमें बड़ी से बड़ी क़ुरबानी करके भी शरणागत-रक्षा, निष्ठा और स्वतंत्रता जैसे जीवन के परम मूल्य निहित थे, उनको 'रासो' में अवश्य साकार किया गया है।

'रासो' द्वारा स्थापित ये जीवन-मूल्य ही उसकी अद्‌भुत लोकप्रियता के आधार हैं। लगातार होनेवाले विदेशी आक्रमणों और अपने आस-पास के राजाओं के साथ आये दिन होनेवाले युद्धों में हार-जीत की अपेक्षा योद्धा का व्यक्तिगत शौर्य, साहस और निर्भीकतापूर्ण आत्म बलिदान, जन-मानस की वीर-पूजा की भावना को विशेष रूप से प्रभावित करता था। जन-मन के आराध्य गुणों का अधिष्ठान होना ही *पृथ्वीराज रासो* की ऐसी व्यापक लोकप्रियता का कारण है, जो अकबर और कर्नल टॉड जैसे लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकी थी। उस ह्रासशील सामन्ती जीवन में कोई उज्ज्वल पक्ष बचा था तो व्यक्तियों के स्तर पर निष्ठापूर्ण समर्पण, आत्मबलिदान और शरणागत की रक्षा जैसे वीरत्व के महनीय आदर्शों को किसी नायक में साकार होते देख पाने की आकांक्षा। कहना न होगा कि इन गुणों की जीवन्त और आवेगमयी अभिव्यक्ति पाठक और श्रोता को अभिभूत कर लेती है। इस दृष्टि से *पृथ्वीराज रासो* अतुलनीय है।

उपसंहार

साहित्य का विकास-क्रम वस्तुतः कार्य-कारण-शृंखला का परिणाम होता है। वर्तमान का स्वरूप विगत की सम्भावनाओं से निर्दिष्ट होता है, दूसरी ओर, वही वर्तमान अपने भीतर अनागत के विकास के बीज छिपाए होता है, जिसे केवल किसी क्रान्तिदर्शी सर्जक की प्रतीक्षा रहती है। आदिकालीन हिन्दी साहित्य, विशेषकर

पृथ्वीराज रासो के वैशिष्ट्य के सारे विधायक तत्त्व उसके पूर्व युग की परिस्थितियों में निहित थे। किसी केन्द्रीय शक्ति के नेतृत्व के अभाव में छोटे-छोटे राज्यों के रूप में, न केवल देश की शक्ति विभाजित और क्षीण हो जाती है, बल्कि, लोगों की निष्ठाएँ और जीवन-दृष्टि भी एक छोटे से परिवेश में संकुचित होकर रह जाती हैं। किसी के पास कोई व्यापक राष्ट्रीय-चेतना, कोई महत् धारणा, कोई उदार दृष्टि होने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। छोटे-छोटे राज्यों के शासकों के छोटे-छोटे राग-द्वेष के प्रसंग ही उनके लिए अपने प्राणोत्सर्ग या किसी के प्राण लेने का कारण बन जाते हैं।

इन छोटे-छोटे राज्यों के चारणों को अपने आश्रयदाताओं को अपौरुषेय पराक्रम और अद्भुत शौर्य सम्पन्न इन्द्र तथा विष्णु जैसा वर्णित करने के लिए अतिरंजित प्रशंसा करनी पड़ती थी। उनके नायकों के नाम चाहे ऐतिहासिक रहे हों, पर उनके जीवन की वर्णित घटनाओं, उनके द्वारा जीते गए युद्धों, उनके विवाहों, मृगया, वन-विहार, केलि-विलास, उनके नगरों का वैभव और ऐश्वर्य, उनकी सेनाओं की साज-सज्जा, सब कुछ निजंधरी काव्यों जैसा काल्पनिक, रमणीय और चमत्कृत करनेवाला होता था।

ईरान आदि पश्चिमी देशों से इतिहास प्रसिद्ध पात्रों को केन्द्र में रखकर काव्य-रचना की जिस प्रवृत्ति को भारतीय कवियों ने अपनाया, उसमें अपनी पद्धति से काल्पनिकता और पौराणिकता का मेल करके ऐसी काव्य-रचनाओं का सूत्रपात किया, जिसमें न इतिहास की तथ्यात्मकता थी, न जीवन की वास्तविकता से उत्पन्न होनेवाला विशिष्ट रस।

तो भी, इन वीरगाथात्मक काव्यों, उसमें भी *पृथ्वीराज रासो* की लोकप्रियता अतुलनीय थी। सोलहवीं शताब्दी में अकबर रासो की इस लोकप्रिचता से ही आकृष्ट और प्रभावित हुआ था तथा अबुल फ़ज़ल ने इसे ऐतिहासिक सूचनाओं का स्रोत-ग्रंथ स्वीकार किया था। 'रासो' के महत्त्व के ये प्रमाण साधारण नहीं कहे जा सकते। राजस्थान के राज-परिवारों में इस ग्रंथ के प्रति अतिशय सम्मान का जो भाव दिखाई पड़ा, उससे प्रभावित होकर कर्नल टॉड न केवल इसके प्रकाशन के लिए प्रयत्नशील हुए, अपितु इस अनुपम ग्रन्थ को अंग्रेज़ी भाषा-भाषी पाठकों को सुलभ कराने के लिए इसका काव्यानुवाद करना भी शुरू कर दिया। उनकी असमय मृत्यु के कारण *पृथ्वीराज रासो* के अंग्रेज़ी अनुवाद का ऐतिहासिक कार्य होते-होते रह गया। भाषा की कठिनाई के बावजूद पश्चिमी विद्वानों ने इसके अनुवाद की दिशा में आकृष्ट होने के साथ इसकी भाषा और व्याकरण के विवेचन की भी शुरुआत की। 'पोएम्स ऑफ़ चंदबरदाई' शीर्षक निबन्ध में ग्राउज़ ने

भी 'रासो' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के प्रकाशन की आवश्यकता पर ज़ोर दिया था।

परन्तु इन तथ्यान्वेपी विद्वानों के लिए *पृथ्वीराज विजय* के इतिहासपोषित तथ्यों की तुलना में 'रासो' की इतिहास-विरुद्ध सूचनाओं की स्वीकार करना कठिन हो गया। इसलिए उन्होंने इसके प्रकाशन की पूरी योजना ही रोक दी। *पृथ्वीराज रासो* के महत्त्व से प्रभावित विद्वत् वर्ग के लिए यह निर्णय चुपचाप स्वीकार कर लेना सम्भव नहीं था। अतः वर्षों 'रासो' की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता सम्बन्धी विवाद के समर्थन और विरोध में बड़े-बड़े इतिहासज्ञ तथा साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् लगे रहे। सारे विवाद का विश्लेषण करने के उपरान्त आचार्य शुक्ल ने इसके इतिहास विरोधी तथ्यों और 'बेठिकाने की भाषा' से क्षुब्ध होकर इसे संदिग्ध ग्रंथों की कोटि में रख दिया। लेकिन उस युग की 'शिक्षित जनता की चित्तवृत्ति' को निर्दिष्ट करने में सहायक ग्रन्थ के रूप में उन्होंने इसका महत्त्व ज़रूर स्वीकार किया। अपने इतिहास में इस युग को वीरगाथा काल नाम देने में शुक्ल जी द्वारा इस ग्रंथ के योगदान की स्वीकृति स्पष्ट है। पर जिस ग्रंथ के लिए आचार्य शुक्ल 'किसी काम का न होना' जैसा निर्णय दे दें, उसे 'कुछ काम लायक़ है या नहीं' यह जानने के लिए प्रयत्नशील होने का साहस भी आसान नहीं था।

एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज़ ऑफ़ राजस्थान के नाम से राजस्थान के इतिहास का प्रकाशन 1829 तथा 1832 ई. में हुआ था, जिसके लेखन क्रम में टॉड ने 'रासो' का उपयोग किया था। ज़ाहिर है कि तभी इसके प्रकाशन की बात उनके मन में आयी होगी। यद्यपि टॉड को ऐसे काव्य-ग्रन्थों से प्राप्त सूचनाओं में इतिहास (तथ्याधारित) और काव्य (भावाधारित) दोनों के अन्तर का ध्यान था तथा 'कवि के पक्षपात और विद्रोह दोनों के इतिहास के लिए घातक' होने का भी ख़याल था। तो भी, 'इस प्रकार के काव्यों में सहज ही ऐसे दोषों के आ जाने' की छूट देते हुए, इस कोटि की पुस्तकों से 'इतिहास की बहुत-सी सामग्री प्राप्त की जा सकती है', इस दृष्टि से वे इसके अनुवाद और प्रकाशन दोनों दिशाओं में सचेष्ट हुए थे।

इस प्रयास के लगभग 120 वर्ष बाद 1951-52 ई. में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्' के तत्त्वावधान में *हिन्दी* साहित्य का आदिकाल विषयक चार भाषणों द्वारा *पृथ्वीराज रासो* के अध्ययन के लिए एक नई दृष्टि, विचार के नए धरातल और समीक्षा के नए आधार ढूँढ़ने का बीड़ा उठाया। उन्होंने ऐतिहासिकता और अनैतिहासिकता के विवाद से अलग होकर 'साहित्य, भाषा तथा सामाजिक गति' की दृष्टि से 'किसी न किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य के मिलने

की सम्भावना' से इस ग्रंथ के अध्ययन पर ज़ोर दिया। उनकी दृष्टि में यह इसलिए भी वांछनीय था कि, "इसमें उस अंधकार युग को प्रकाशित करने योग्य चिनगारी की सम्भावना थी, जो उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने में सहायक होती।"

आचार्य द्विवेदी ने मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या द्वारा 'रासो' के सम्पादन के दुरुह कार्य को आगे बढ़ाने का काम भी शुरू किया। 69 समयों वाले विशाल ग्रंथ में से उसके मूल अंश का संधान करने से पहले उसके लिए मान्य आधार और दिशा निर्धारित करना ज़रूरी था। इस विकट कार्य के लिए उन्होंने यथासम्भव विवेक और श्रमपूर्वक निर्णायक कसौटियाँ तय कीं और उनके आधार पर *संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो* का सम्पादन किया। इसे स्वीकार करते हुए भी, कि 'रासो' के मूल रूप को निर्भान्त और त्रुटिहीन रूप से निर्दिष्ट कर पाना लगभग असाध्य है, विद्वानों ने 'रासो' के इस संक्षिप्त संस्करण को मान्यता दी। माताप्रसाद गुप्त जो समय-समय पर 'रासो' के पाठ आदि के सम्बन्ध में गहरी छान-बीन करते रहे हैं, उन्होंने भी कुछ आपत्तियां के बावजूद इसे महत्त्वपूर्ण प्रयास माना।

भाषा की बाधा के नाते रासो के साहित्यिक मूल्यांकन का कार्य चुनौती भरा था। विपिनबिहारी त्रिवेदी ने प्रामाणिकता विषयक विवाद के बजाय *चंदबरदाई और उनका काव्य* में पहली बार 'रासो' के रचयिता और उसकी कलाकृति के वैशिष्ट्य का उद्घाटन किया। डॉ. त्रिवेदी ने चंद के जीवन सम्बन्धी सूचनाओं के लिए 'रासो' के अन्तःसाक्ष्य का ही सहारा लिया। चंद न केवल आदिकाल के, वल्कि, हिन्दी साहित्य के 'नवरत्नों' में प्रतिष्ठित कवि हैं। उन्हें ऐसी कृति के प्रणयन का श्रेय है, जो एक पूरे युग की प्रमुख धारा का प्रतिनिधित्व करती है। चंद अपने युग के प्रसिद्ध कवि होने के साथ वीर योद्धा, प्रत्युत्पन्नमतिसम्पन्न, कुशल दूतत्व करनेवाले चतुर सहायक तथा संकट-काल में प्राण देकर सहायता करनेवाले मित्र थे। लोकचित्त में वे पृथ्वीराज के बन्धु, सहायक और साथ-साथ प्राणों की बलि देकर मित्रता निभानेवाले सखा थे। डॉ. त्रिवेदी ने 'रासो' की भाव-व्यंजना, वस्तु-वर्णन, रस, अलंकार और छन्द आदि के सम्बन्ध में व्यापक दृष्टि से विचार कर इस ग्रंथ के काव्य-सौष्ठव के विश्लेषण द्वारा इसके साहित्यिक महत्त्व को उद्घाटित किया। साथ ही, बीम्स के बाद इन्होंने ही 'रासो' की भाषा पर भी विचार किया, यद्यपि इसमें कोई नई स्थापना नहीं की। 'रासो' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में तथ्यों के संकलन, उनकी ग्राह्यता/अग्राह्यता पर विचार-विमर्श की दिशा में सक्रिय बने रहने की दृष्टि से माताप्रसाद गुप्त और राजमल बोरा के प्रयास भी उल्लेखनीय हैं।

संक्षिप्त 'रासो' के सहसम्पादन के दायित्व निर्वाह के साथ नामवर सिंह ने 'रासो' के अध्ययन के क्षेत्र में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की। 'रासो' की भाषा और व्याकरण के अध्ययन का सूत्रपात 1869-76 ई. के लगभग बीम्स और ग्राउस के बीच अनुवाद के औचित्य के सन्दर्भ में उठे विवाद से हुआ था। ई. 1873 में जब बीम्स ने 'रासो' का प्रथम व्याकरण प्रस्तुत किया था, उस समय तक 'रासो' का कोई सुसम्पादित मुद्रित संस्करण उपलब्ध नहीं था। बीम्स ने टॉड की प्रतिलिपि, बेदला और आगरे की दो अन्य पाण्डुलिपियों के आधार पर सम्पादन शुरू किया था और उस समय तक 'प्रथम समय' का सम्पादन हो चुका था। स्वाभाविक था कि बीम्स ने इस प्रथम समय के आधार पर ही व्याकरण की अधिकांश सामग्री ग्रहण की। बीम्स के बाद हॉर्नले ने भी 'रासो' की भाषा पर विचार किया पर वह *गौडियन ग्रामर* में हिन्दी कारकों की व्युत्पत्ति के विचार के सन्दर्भ में स्थान-स्थान पर चंद से दिए गये उदाहरणों तक ही सीमित है। नामवर सिंह ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। ग्रियर्सन का संकेत उनके ध्यान में था, अतः 'रासो' की भाषा के सांगोपांग अध्ययन द्वारा उन्होंने 'भारतीय आर्य भाषा के ऐतिहासिक विकास' में 'रासो' की भाषा के महत्त्व का उद्घाटन किया।

चारणों और भाटों द्वारा वीरगाथात्मक काव्यों के सामान्यतया अतिशयोक्तिपूर्ण, आडम्बरप्रधान तथा चामत्कारिक वर्णनों से युक्त होने की धारणा बलवती होती है। 'रासो' का सहृदयतापूर्ण अध्ययन इस मत को संशोधित करने के लिए विवश करता है। कथा के मार्मिक स्थलों को पहचानने में 'रासो' के रचयिता की सहृदयता और उसकी मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति दोनों पाठक को प्रभावित करती है। उस युग में परम्पराओं का निषेध सम्भव नहीं था। अतः चंद को भी उनका निर्वाह करना था। वयःसन्धि, सौन्दर्य-वर्णन और भावानुकूल प्रेम-प्रसंगों के प्रभावशाली वर्णनों की दृष्टि से चंद का कौशल प्रशंसनीय है। यही नहीं, अप्रस्तुत-योजना में पारम्परिकता के अवरोध से बाहर आकर एकदम अछूती और उस युग के लिए नितान्त नई उद्भावनाएँ करने में कवि की कल्पनाशीलता आश्चर्यजनक है।

'रासो' की कथा का अत्यन्त मार्मिक स्थल है—वन्दी-गृह में पड़े अंधे, असहाय और एकाकी पृथ्वीराज की मर्मान्तक पीड़ा तथा पश्चात्तापदग्ध मनःस्थिति का चित्रण। अपने युग के अद्भुत पराक्रमी योद्धा का पश्चात्ताप से भरा लम्बा स्वगत-कथन मर्माहत करनेवाला है। अपनी भुजाओं की शक्ति पर अखण्ड विश्वास के बल पर अनेक युद्धों के विजेता वीर के दर्प के धूल-धूसरित होने की पीड़ा की त्रासदी असाधारण है। चंद ने इस सम्पूर्ण प्रसंग का अत्यन्त कारुणिक चित्र प्रस्तुत किया

है। उस पराक्रमी वीर के लिए ईश्वर की शरण में जाने के अलावा कोई विकल्प न रह जाए, यह पृथ्वीराज के जीवन का सबसे करुण पर्यवसान है। इस प्रसंग में चंद की सहृदयता मन को छू लेती है।

उस युग के सामन्ती जीवन के गौरवगान में तत्कालीन समाज के सुख-दुःख के विषय कवि के भाव-जगत् से बाहर छूट गए हैं। कहीं-कहीं एकाध झलक मिल जाती है। पृथ्वीराज अपनी नई रानी के साथ काम क्रीड़ा में डूबा हुआ है। उसको राज-काज से कोई प्रयोजन नहीं रह गया है। ऐसी स्थिति में शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण से त्रस्त और अरक्षित प्रजा राजा तक अपनी गुहार कैसे पहुँचाए, इसकी चिन्ता में लोगों की घबराहट का सुन्दर चित्रण हुआ है। अन्यथा सारा काव्य केवल सामन्तों के वैयक्तिक वीरोचित दर्प का ऐसा रूप प्रस्तुत करता है, जिसमें प्राण देकर भी शरणागत की रक्षा करना, स्वाभिमान, निष्ठा, समर्पण आदि आदर्श जीवन-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उस सामन्ती समाज के सामने कोई बड़ा लक्ष्य नहीं था, उनके लिए राष्ट्रीय चेतना का कोई संदर्भ नहीं था, छोटे-छोटे राज्यों की सीमाओं की तरह मनुष्य की अवधारणाएँ और जीवन-मूल्य भी उसकी वैयक्तिकता के वृत्त में सिमट आए थे। इन विखंडित शक्तियों के बीच जहाँ आए दिन युद्धों के प्रसंग आ जाते हों, वहाँ हार-जीत से भी बड़ी बात थी प्राणों के बलिदान का निर्भय साहस, स्वाभिमान रक्षा, दर्पपूर्ण वीरत्व, किसी को दिए गए वचन का प्राण देकर भी निर्वाह करना। ये मूल्य ही उस युग की वीर-पूजा के विधायक तत्त्व बन गए तो आश्चर्य क्या? आल्हा-ऊदल की जीत नहीं हुई थी, पर उन्होंने अपने दिए गये वचनों का पालन करने में अपने प्राण दे दिए—यह गुण उस युग में उन्हें और इसी तरह किसी को भी—नायक बना देने के लिए बहुत बड़ा आधार था। उस ह्रासशील सामन्ती समाज में वैयक्तिक स्तर पर वीरत्व के इन महनीय गुणों को किसी नायक में साकार होते देखना उस युग की वीर-पूजा का आकांक्षित आदर्श था। इस तत्त्व की अत्यन्त प्रभावशाली अभिव्यक्ति होने के नाते ही *पृथ्वीराज रासो* को मध्ययुगीन भारतीय समाज का 'काव्यात्मक इतिहास' कहा गया।

और इस कल्प सृष्टि का कर्ता है—हिन्दी का आदि (कालीन) कवि चंदबरदाई, जो अपने आप में ही एक निजंधरी नायक है। उसे लेकर प्रचलित अनुश्रुतियाँ और कथाएँ प्रमाण हैं कि चंद का लोकचित्त के साथ वैसा ही तादात्म्य हुआ है, जैसा सूर, तुलसी और कबीर का। मिश्रबन्धुओं द्वारा 'हिन्दी के नवरत्नों' में प्रतिष्ठित किया जाना भी इस महत्ता की ही स्वीकृति है। असंख्य अज्ञात कवियों ने अपने परिचय का विसर्जन करते हुए 'रासो' में इतना और ऐसा योगदान

किया कि उसमें से चंद की मूल रचना को ढूँढ़ निकालना एक चुनौती हो गई। लोक-मन में चरितनायक पृथ्वीराज और कवि चंद के एक ही दिन, एक ही मुहूर्त में जन्म और मृत्यु का विश्वास जड़ीभूत है। यह तथ्य इतिहास समर्थित हो या नहीं, लोक-मन में यह मान्यता दृढ़ है। चंद कला-मर्मज्ञ, बहुभाषाविद् और लोक-व्यवहार में निपुण तो थे ही, आगे बढ़कर युद्ध में भाग लेनेवाले प्रचण्ड वीर भी थे। वे पृथ्वीराज के विश्वासपात्र सलाहकार और अवसर पड़ने पर, उनकी भूलों के लिए, खरी-खोटी सुनाने का साहस रखनेवाले परम आत्मीय मित्र भी थे। आन्तरिक और बाह्य संघर्षों से उद्वेलित उस युग के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में प्रेम तथा युद्ध जैसे सनातन विषयों पर मर्मस्पर्शी चित्रण करने में चंद की सहृदयता और भावुकता का अच्छा समन्वय हुआ है। राजपूताने के लगभग सभी राजवंशों में *पृथ्वीराज रासो* को इतना समादृत और लोकप्रिय ग्रंथ बनाने में इन्हीं गुणों का योग है।

संदर्भ :

1. *हिन्दी साहित्य का आदिकाल,* हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 80
2. *चंदबरदाई और उनका काव्य,* विपिनबिहारी त्रिवेदी, पृ. 92
3. *पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य,* नामवर सिंह, पृ. 258
4. वही, नामवर सिंह, पृ. 262
5. *हिन्दी साहित्य का आदिकाल,* ह. प्र. द्विवेदी, पृ. 105
6. रॉयल एशियाटिक सोसाइटी जर्नल, 1868 ई., खण्ड 37
7. वही, 1869 ई., खण्ड 38
8. वही, 1876 ई., खण्ड 42, खण्ड-1
9. *काशी विद्यापीठ रजत जयन्ती अभिनंदन ग्रंथ,* पृ. 177-178
10. *माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान,* ग्रियर्सन, पृ. 44
11. *पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य,* नामवर सिंह, प्रस्तावना, पृ.18
12. *राजस्थान भारती,* भाग-1, सं. 1, सन् 1949, पृ. 101
13. *पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य,* नामवर सिंह, पृ. 265
14. वही, पृ. 265
15. वही, पृ. 266
16. *हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास,* ह. प्र. द्विवेदी, पृ. 109
17. *पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य,* नामवर सिंह, पृ. 263

परिशिष्ट

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. *आइन-ए-अकबरी,* अबुल फ़ज़ल (अंग्रेज़ी अनुवाद) 1949 ई.
2. *अपभ्रंश-आदिकाल एवं भक्ति काल के सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम,* शम्भूनाथ पाण्डेय 1998, प्र. सं.
3. *एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज़ ऑफ़ राजस्थान,* कर्नल जेम्स टॉड
4. *चंदबरदाई और उनका काव्य,* विपिन बिहारी त्रिवेदी, प्र. सं. 1952
5. *पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य,* नामवर सिंह, 1997 ई.
6. *पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य,* राजमल बोरा, प्र. सं. 1974 ई.
7. *पृथ्वीराज रासो की विवेचना,* मोहनलाल व्यास शास्त्री तथा नानूराम व्यास
8. *फ़ाउण्डेशन ऑफ़ मुस्लिम रूल इन इण्डिया,* ए. वी. एम. वहीदुल्ला, भाग-3
9. *मध्यकालीन भारत* (750-1440), सं. हरिश्चन्द्र वर्मा, 1985 ई.
10. *महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण स्मृति ग्रंथ,* सं. व्रजसुन्दर वर्मा प्र.सं., 1969
11. *माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान,* सर जार्ज ग्रियर्सन 1888
12. *संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो,* हज़ारीप्रसाद द्विवेदी तथा नामवर सिंह, पाँचवाँ सं. 1968 ई.
13. *रासो साहित्य विमर्श,* माताप्रसाद गुप्त, प्र. सं., 1962 ई.
14. *हिन्दी साहित्य* (द्वितीय खण्ड), सं. धीरेन्द्र वर्मा, व्रजेश्वर वर्मा प्र. सं. 1959 ई.
15. *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* रामचन्द्र शुक्ल, 13वाँ संस्करण 2018 वि.
16. *हिन्दी साहित्य का आदिकाल,* हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, तृ. सं. 1961 ई.
17. *हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास,* हज़ारी प्रसाद द्विवेदी 1952 ई.
18. *हिन्दी नवरत्न,* मिश्र बन्धु, सातवाँ संस्करण सं. 2012
19. *हिस्ट्री ऑफ़ मेडिवल इण्डिया,* सी. वी. वैद्य, 1926 ई.
20. *हिन्दी वीर काव्यधारा,* बटेकृष्ण, प्रथम खण्ड, प्र. सं. 1982
21. *जर्नल ऑफ़ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल,* जिल्द 38, 42 तथा 55

□□□